समरथ

मार्च – अप्रैल 2006 नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

शब्दों की उत्पत्ति। हज़ारो सालों तक समुदायों के अथक प्रयासों का नतीजा। ऐसे प्रयास जो क्षेत्र विशेष में मौजूद हर तरह लोगों के साझे रहे होंगे। साझे प्रयासों का सिलसिला शताब्दियों का सफर तय करके हम तक पहुंचा भाषाओं और उसमें इस्तेमाल होने वाले शब्दों की विरासत के रूप में। हमारी साझी विरासत का प्राचीनतम् रूप शब्द ! कैसे ढले यह शब्द ! कैसे बने यह हमारी साझी विरासत ! चिली के महान कवि, नोबेल पुरस्कार विजेता पाब्लो नेरूदा की ज़बानी :

शब्द

पाब्लो नेरुदा

पैदा हुआ लहू में
और पनपा शरीर की अंधेरी गुफा में
शब्द,
धड़कता हुआ,
और मुक्त पक्षी–सा उड़ गया
मुंह और होठों की राह।
दूर और दूर फिर भी
करीबतर,
पुरखों की विरासत से,
घुमन्तू कबीलों के संग संग
आया, फिर आया शब्द।
आया उन देशों से
जो लौट गए थे पुनः
पाषाण युग की ओर,
डरा हुआ दैन्य से आया शब्द।
क्योंकि जब दर्द सड़कों पर आ गया
छूट पड़े काफिले और पहुंचे मंजिल तक
बसने लगीं नई बस्तियां
और नई नई धरती व नये–नये सागर
मिलकर फिर से
अपने शब्दों की
बोने लगे नई फसल।

तो इस तरह,
ऐसी है यह विरासत–
ऐसा है यह तार
जो जोड़ता है हमको
उस मरे हुए आदमी से,
और आने वाली सुबह से
अभी फूटने को है
जिसकी अरूणाभा।

आज भी–अभी तक,
आतंक और यंत्रणा में
लिपटे उस आदिम शब्द की
लौह–अनुगूंज से
कांप–कांप उठता है आसमान,
फाड़ता हुआ अंधेरे को

उमड़ता चला आया शब्द,
और उसका गहन गर्जन
गुंजायमान आज तक!
वह प्रथम मुखरित
आदि शब्द–
शायद वह था
एक छोटा मृदुल स्पन्दन,
छोटी–सी एक बूंद–
तो भी उस बूंद का,
उस एक लहर का
अनहद अनवरत जलप्रपात
झरता है झरता है
करता ही रहता है
अट्टहास!
गुजरता है वक्त
तब कहीं जाकर शब्द में भरता है अर्थ।
डिम्ब में जैसे शुक्राणु
शब्द भर उठता है जीवन से।
हर चीज़ का ताल्लुक है,
प्रजनन से और ध्वनि से–
स्वीकृति, स्पष्टता, शक्ति,
अस्वीकृति, ध्वंस और मृत्यु–
समाहित हो गई सारी ऊर्जा
क्रिया पदों में
उनकी सुन्दरता की विद्युत में
समा गया सार
सारे अस्तित्व का।

मानवीय शब्द, शब्दों के टुकड़े,
किरनों के जाले नक्काशी चांदी की,
पुश्तैनी जाम–ए–जमशेद–
जिसमें खिंच आता है
रक्त संबंधों का सारा वृत्तान्त,
जहां शब्द की सम्पूर्णता में
समा गई खामोशी–
क्योंकि आदमी के लिए
न बोल पाने का अर्थ है–मर जाना,
भाषा छाई हुई है रोम–रोम में,
मुखरित हो उठता है शब्द
बिना होठ हिलाये हुए,
एकाएक आंखे ही बन जाती हैं शब्द।

पकड़ता हूं मैं शब्द को
और
उलट–पलट कर जांचता हूं उसको,
जैसे कि शब्द–शब्द न हो
बल्कि आकृति हो आदमी की।
संभ्रमित करती है मुझे
इसकी संरचना–
और मुझे दिखती हैं राहें
इसके विविध
उच्चारणों, आरोहों, अवरोहों में–
मैं बोलता हूं तो हूं मैं
और जब चुप हो जाता हूं
तो मैं जा पहुंचता हूं सीमा रेखा पर
शब्द और सन्नाटे की।

पीता हूं मैं जाम
शब्द की सेहत के लिए,
जाम की तरह उठाता हूं
जगमगाता हुआ शब्द
और पाता हूं इसमें मैं
भाषा का अमृत
कि आबे जमजम
कि शब्दों की गंगोत्री
–और
जाम से, अमृत से, अक्षय जल से
उपजता है मेरा गीत
क्योंकि क्रिया पद है जीवन का स्त्रोत–
जीवन का रक्त है,
रक्त जो व्यक्त करता है
अस्मिता को अपनी।

और इस तरह खुलती जाती हैं इसकी गांठें
और सुलझती जाती हैं लटें–
शब्द ही तो देते हैं :
पारदर्शकता को पारदर्शकता,
रक्त को रक्त
और
जीवन को जीवन।

अनुवाद : दिनेश कुमार शुक्ल
‘उद्‌भावना’ से साभार

साँच कहें तो मारन धावै

भाजपा और सांप्रदायिकता

डा. योगेश भटनागर

रजत जयन्ती वर्ष में भाजपा के कई चेहरे नज़र आये। आरएसएस द्वारा हटाये गये आडवाणी का पाकिस्तान में जिन्ना से जुड़ा बयान फिर उन्हीं की आरएसएस को नसीहत कि संघ अपने सांस्कृतिक कार्य करे और भाजपा की राजनीति में दखल न दे, भाजपा के कई सांसदों का 'प्रश्न के लिये पैसा' मामले में कैमरे में कैद और लोकसभा से निष्कासित, संजय जोशी का उनके यौन संबंधों को उजागर करती एक सीडी का रजत जयंती समारोह में बाँटा जाना, आरएसएस द्वारा भाजपा का अध्यक्ष और मध्य प्रदेश का मुख्यमंत्री मनोनीत करना, आदि आदि ये साबित करते हैं कि भाजपा आज भी आरएसएस द्वारा चलायी जाती है। भाजपा आरएसएस की हिंदुत्ववादी विचारधारा के आधार पर ही अपने राजनीतिक कार्यक्रम तैयार करती है और संघ परिवार के अन्य सदस्य जैसे विहिप, बजरंग दल आदि भी इन कार्यक्रमों को अंजाम देते हैं। भाजपा सांप्रदायिकता फैलाती है, अल्पसंख्यक विरोधी है और एक फासिस्ट पार्टी की तरह लोकतंत्र और संविधान में विश्वास नहीं रखती। आइये देखते हैं कि भाजपा और संघ परिवार भाजपा शासित राज्यों में किस तरह सांप्रदायिक सौहार्द और समन्वय को नष्ट कर, अल्पसंख्यक विरोधी गतिविधियाँ सरकारी तौर पर कर रही है। भाजपा शासित मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और छत्तीसगढ़ से इकट्ठे किये गये ये तथ्य साबित करते हैः

मध्य प्रदेश

भाजपा शासित मध्य प्रदेश में गिरजाघरों में आगजनी की कोशिशें और पादरियों के साथ मारपीट ने ईसाइयों को परेशान कर रखा है। संघ परिवार के बजरंग दल और विहिप ने इस राज्य में कानून अपने हाथ में ले रखा है। भोपाल के भारती निकेतन में 28 जनवरी को प्रार्थना कर रहे पादरी सैम फ्रॉसिस समेत 7 ईसाइयों को बजरंगियों ने खूब जमकर पीटा। दिखाने के लिए पीटने वालों को पुलिस ने गिरफ्तार किया और अगले दिन ही वो अदालत से मुचलके पर छोड़ दिये गये। बजरंग दल जल्द ही भोपाल और उसके आस पास ईसाई बने लोगों के लिये 'ऑपरेशन घर वापसी' शुरू करने वाला है। एक पुलिस महानिरीक्षक ने माना है कि पिछले दिनों ईसाई समुदाय के साथ मारपीट और धर्म स्थलों पर हमलों की छिटपुट घटनाएं बढ़ी हैं।

मध्य प्रदेश क्रिश्चियन एसोसिएशन के सचिव फादर अनिल मार्टिन का कहना है कि शिवराज सिंह के मुख्यमंत्री बनने के बाद ईसाइयों का उत्पीड़न बढ़ा है। बजरंगियों ने 5 फरवरी की सुबह शारदा नगर, इंदौर, के सिटी प्रेयर सेंटर चर्च में घुसकर दो सहायक पादरियों जोजिन और जोजो की जमकर पिटाई की। 21 दिसम्बर 2005 को फादर अनिल मार्टिन को उनके स्कूल में घुसकर बजरंगियों ने धमकाया। 21 जुलाई 2005 को झाबुआ में सेंट माइकल चर्च के फादर थॉमस को धर्मातंरण के झूठे केस में गिरफ्तार किया गया। ग्वालियर ज़िले के डबरा में 2 जुलाई 2005 को अभिभावकों की बैठक के दौरान अंग्रेजी पढ़ाने को लेकर बजरंगियों ने विवाद खड़ा किया। 25 मई 2005 को इछावर नगरपालिका ने बिल भुगतान न होने के आरोप में चर्च के नल का कनेक्शन काट दिया। 5 मई 2005 को जबलपुर के नेपियर टाउन इलाके में होली ट्रिनीटी चर्च को कुछ बजरंगियों ने अपवित्र करने की कोशिश की। 12 मई 2005 को यही घटनाक्रम फिर दोहराया गया। 8 मार्च 2005 को इंदौर में ईसाइयों के सोशल वेलफेयर सेंटर को मिली ज़मीन पर बजरंग दल ने भगवान शिव की मूर्ति स्थापित की। धार में धोनी कस्बे में 1938 से स्थापित सेंट जोसेफ चर्च ने जब होस्टल को विस्तार देने के लिये कुछ ज़मीन खरीदी तो कट्टरपंथी संगठन से जुड़े एक किसान परिवार ने इस ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया और बाद में ज़मीन को सरस्वती शिशु मंदिर के लिए दान कर दी। अगले दिन इस ज़मीन पर शिशु मंदिर का शिलान्यास कर दिया गया। चर्च के खिलाफ नारे लगाये गये।

मध्य प्रदेश में आरएसएस से जुड़े संगठनों ने अब चर्च और पादरियों को अपना निशाना बनाना शुरू कर दिया है। करीब–करीब हर ज़िले में चर्च और पादरियों पर हमले हुए हैं। बजरंग दल ने सिर्फ चर्च और पादरी ही नहीं बल्कि मिशनरीज़ द्वारा चलाये जा रहे स्कूलों पर भी हमला बोल दिया है। भोपाल में कार्मेल कान्वेंट स्कूल का बजरंगियों ने ये कहकर घेराव किया कि बच्चों को ईसाई बनाया जा रहा है। बजरंग दल ने एम.एफ.हुसैन के खिलाफ भी प्रर्दशन किया। प्रदेश में भाजपा की सरकार ये सब अल्पसंख्यक विरोधी गतिविधियां खामोश देख रही है मतलब परोक्ष रूप से समर्थन दे रही है। वैसे आरएसएस के मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान से ये उम्मीद तो होनी ही चाहिये।

मध्य प्रदेश में अयोध्या के रूप में जानी जाने वाली पुरातत्व महत्व की अति संवेदनशील इमारत भोजशाला में वसंत पंचमी के दिन पूजा और नमाज़ अदा होने की परम्परा है। यह बात याद रखने लायक है कि भोजशाला के रूप में यह अद्भुत इमारत परमार कालीन राजा भोज ने बनवाई थी। 16वीं शताब्दी में सूफी संत मौला कमाल अपने शिष्यों के साथ मांडवा आये और यहां उन्होंने अपना डेरा जमा लिया। मौला कमाल की दरगाह भोजशाला के द्वार पर है और उससे आगे कुछ और समाधियां हैं। कई बार के टकरावों, तनावों, गोली, लाठी और कर्फ्यू के बाद पुरातत्व विभाग ने फार्मूला बनाया कि यहां हिंदू हर मंगलवार को पूजन करें, और साल में एक बार बसंतोत्सव

मनाएं जबकि मुसलमान हर शुक्रवार को नमाज़ पढ़ें और साल में एक बार ईद मनायें। इस बार बसंतपंचमी शुक्रवार को पड़ी इसलिये हिंदुओं ने दिन में बसंतोत्सव मनाया और मुसलमानों ने दोपहर में नमाज़ अदा की। यूपीए सरकार के आदेश पर ये सब मुमकिन हो पाया।

राजस्थान

भाजपा शासित राज्य राजस्थान में भाजपा शिक्षा के निजीकरण के नाम पर अपनी राजनीतिक विचारधारा का प्रसार सुनियोजित तरीके से कर रही है। भाजपा सरकार ने सिर्फ दो सालों में 343 निजी कॉलेज खोले और निजी क्षेत्र में विश्वविद्यालय खोलने की नीति मई 2005 में राजस्थान निजी विश्वविद्यालय विधेयक पास करके लागू कर दी। इसके तहत सरकार ने अब तक तेरह निजी विश्वविद्यालयों को लैटर ऑफ इन्टेंट ज़ारी कर दिये हैं। यही नहीं राज्य सरकार संघ परिवार के देश के पहले विश्वविद्यालय को परोक्ष रूप से मदद कर रही है। आरएसएस की संस्था केशव विद्यापीठ को विश्वविद्यालय खोलने के लिये राज्य सरकार ने 25 जनवरी को लैटर ऑफ इन्टेंट जारी किया है। संघ का यह विश्वविद्यालय जयपुर के पास जामडोली गांव में स्थित केशव विद्यापीठ संस्थान के पास 172 बीघे ज़मीन पर बनाया जायेगा। इसके लिये ज़मीन भी सरकार देगी। केशव विद्यापीठ संघ का एक बड़ा शिक्षा केंद्र है जहां पर प्राईमरी से कॉलेज स्तर तक आवासीय शिक्षा की व्यवस्था है। राजस्थान में संघ परिवार और इससे जुड़ी शिक्षा संस्थाएं करीब 800 स्कूल चलाते हैं। विश्वविद्यालय के पहले साल में ही इससे संबद्ध करीब एक दर्जन कॉलेज खुल जाने की उम्मीद है। इस विश्वविद्यालय के खुलने से राजस्थान भर में संघ की विचारधारा के प्रचार–प्रसार का एक पूरा सुगठित ढाँचा खड़ा हो जायगा।

हिंदू जागरण मंच, बजरंग दल और हाल में बनाये गये मतांतरण विरोधी मंच के कार्यकर्ताओं ने फिर एक बार कोटा स्थित ईमैन्यूल मिशन इंटरनेशनल (इ.एम.आई) पर यह कर हमले किये कि इन्होंने हिंदू देवी देवताओं के खिलाफ अनादर सूचक शब्दों और भाषा का इस्तेमाल किया। इन कार्यकताओं ने 23–26 फरवरी 2006 के बीच होने वाले अखिल भारतीय सम्मेलन और कॉनवोकेशन सेरीमनी को मुल्तवी करने को मजबूर किया। हालांकि ई.एम.आई. के प्रबन्धकों ने एम.जी. मैथ्यू द्वारा लिखित 'हकीकत' एम.एस. गोलवालकर की 'बंच ऑफ थॉट्स' का एक विश्लेषणीय अध्ययन से अपने किसी भी तरह के सम्बन्ध को नकारा है इसके बावजूद संघ परिवार ने 23 फरवरी को कोटा बंद का ऐलान कर दिया। 'हकीकत' किताब में हिंदू देवी देवताओं के खिलाफ की गई टिप्पणी को बहाना बनाकर आरएसएस के विहिप और बजरंग दल ने राजस्थान में सांप्रदायिकता का ज़हर घोलना शुरू कर दिया है और भाजपा की राजस्थान सरकार और प्रशासन इन दंगों को समर्थन दे रहा है। ये बात समझ में नहीं आती कि जिस भाजपा–एनडीए की सरकार ने डा. एम. एम. थॉमस को पद्मश्री का खिताब दिया इसी भाजपा की सरकार ने ई.एम.आई से जुड़ी सभी संस्थाओं को अपने नियंत्रण में लेने का हुकुम जारी कर दिया है, इस मिशन से जुड़ी संस्थाओं को निरस्त कर दिया है और डेनिस नेथालियन सहित चार लोगों को गिरफ्तार कर लिया है। यही नहीं विहिप और बजरंग दल के कार्यकर्ता इन संस्थाओं पर हमले कर रहे हैं। एक संगठन ने तो किताब के लेखक का सिर काटकर लाने वाले को दस लाख का इनाम देने का भी ऐलान कर दिया है। समाज कल्याण विभाग के मंत्री मदन दिलावर जो खुद कोटा से विधायक हैं, अपनी कट्टरपंथी विचारधारा के लिये जाने जाते हैं। प्रशासन का विहिप और बजरंग दल को समर्थन एक बार फिर सरकार के सांप्रदायिक और भगवा चेहरे को दिखाते हैं। ये बात याद रखने की है कि पिछले साल भी संघ के कार्यकर्ताओं ने ई.एम.आई में आये डेलीगेट्स को सम्मेलन में नहीं पहुंचने दिया था और कुछ को स्टेशन से ही वापसी की गाड़ी में बैठा दिया था।

23 फरवरी को बजरंग दल के कार्यकर्ता झोतवाड़ा में स्थित ईमैन्यूल बिलिविटस चर्च में ज़बर्दस्ती घुस गये और चर्च की छत पर जाकर ईमैन्यूल मिशन कोटा के फाउन्डर एम.ए. थॉमस का पुतला जलाया। कार्यकर्ताओं ने क्रॉस (सलीब) पर 'ओम' और क्रॉस के नीचे 'श्री राम' भी लिखा। इसी तरह की हरकत संगानेर में प्रताप नगर में एक चर्च में की। संघ के कार्यकर्ता ये सब सारे राज्य में मतांतरण विरोधी मंच के तहत कर रहे हैं और प्रशासन खामोश देख रहा है।

21 मार्च 2006 को वामपंथी, कांग्रेस, (जद) से धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील संगठनों ने हज़ारों की संख्या में राजस्थान में ईसाईयों पर हो रहे अत्याचार और उत्पीड़न के खिलाफ शांति यात्रा निकाली। ये यात्रा तथाकथित विवादित किताब 'हकीकत' को लेकर निकाली गयी। सारे राजस्थान से आये हज़ारों लोगों ने इस मूक शांति यात्रा में भाग लिया जो एसेम्बली पर आकर खत्म हुई। राजस्थान क्रिश्चियन फैलोशिप (आर सी एफ) के नेतृत्व में निकाली गयी। इस यात्रा को मानवाधिकार, दलित अधिकार, मुस्लिम, बुद्धिस्ट संगठनों के साथ–साथ सर्वोदय आंदोलन, महिला संगठन, ट्रेड यूनियन और वामपंथी पार्टियों का समर्थन प्राप्त था। समाज के इतने बड़े और व्यापक हिस्से का इस मूक शांति यात्रा में शामिल होना इस बात को साबित करता है कि भाजपा शासित राजस्थान सरकार किस हद तक ईसाईयों पर अत्याचार कर रही है और उनका उत्पीड़न हो रहा है। एक बात और याद रखने के काबिल है कि संघ परिवार के बजरंग दल और हिंदू जागरण मंच ने यात्रा निकालने वालों को धमकियाँ दीं थीं। रेमण्ड कोलेहो, अध्यक्ष आर सी एफ ने मुख्यमंत्री को दिये ज्ञापन में कहा हैः 'हमलोग एक बार फिर किताब के नाम पर ईसाईयों पर हमलों को कोटा में पिछले साल किये गये दंगों के रूप में देख रहे हैं। आपकी कैबिनेट का एक मंत्री, जिसने बिना किसी जातिपाँति के भेदभाव के जनता की सेवा करने की कसम खायी है, लगातार विधानसभा में और विधानसभा के बाहर ईसाईयों

पर तरह–तरह के इल्ज़ाम लगा रहा है। इन मामलों में सामाजिक वेलफेयर और को–ऑपरेटिव मंत्री मदन दिलावर की भूमिका साफ–साफ दिखाई पड़ती है’ ऐसा ज्ञापन में कहा है।

21 मार्च को ही सुबह बजरंग दल और विहिप के करीब डेढ़ सौ कार्यकताओं ने निवाई के बस स्टैण्ड पर ई.एम.आई. स्कूल के प्राचार्य आगस्टीन जार्ज और उनकी पत्नी मिनी ए जार्ज पर हमला किया जो जयपुर में आयोजित मूक शांति यात्रा में भाग लेने जा रहे थे। आगस्टीन का मुकदमा दर्ज नहीं किया गया। ये साबित करता है प्रशासन और पुलिस किस हद तक सांप्रदायिक हो गयी है।

राजस्थान के ईसाईयों ने राज्यपाल प्रतिभा पाटील को अपने ज्ञापन में कहा कि राज्य के सबसे छोटे अल्पसंख्यक समुदाय यानी ईसाई डर और खौफ के माहौल में जी रहे हैं। राजस्थान के बांसवारा और डूंगरपूर ज़िलों में हिंदुत्ववादी ताकतें पादरियों और ननों पर लगातार अत्याचार कर रहे हैं और उत्पीड़न अपनी पराकाष्ठा पर है। अगर बांसवारा, अजमेर, उदयपुर और कोटा में ईसाईयों पर अत्याचार और उत्पीड़न जारी रहा तो कोई ताज्जुब नहीं होगा कि राजस्थान में वही सब हो जाये जो गुजरात में हुआ। इस डेलीगेशन ने राज्यपाल से ये भी पूछा है कि राजस्थान विधानसभा में तमिलनाडू की तर्ज पर धर्मांतरण विरोधी बिल को लाने का क्या औचित्य है? ज़ाहिर है राज्य सरकार कट्टरवादी और हिंदुत्ववादी ताकतों को तुष्ट करना चाहती है। इस बिल के पास होने का मतलब होगा कि अल्पसंख्यकों पर अत्याचार और उत्पीड़न बढ़ेगा। यह भी डर जताया गया कि पुलिस और प्रशासन भी अल्पसंख्यकों के विरुद्ध कट्टरवादी ताकतों का साथ देगा। इस ज्ञापन के बावजूद भी राजस्थान सरकार ने धर्मान्तरण विरोधी कानून पास कर दिया।

यहाँ एक तथ्य की तरफ इशारा करना ज़रूरी है कि गुजरात के बाद अब आरएसएस और संघ परिवार ने हिंदुत्ववादी राजनीति को फैलाने के लिये राजस्थान को नम्बर वन पर रखा है। 24 फरवरी से मनाये जाने वाले गोलवलकर जन्मशती वर्ष में आरएसएस करीब 4500 नयी शाखाएँ खोलेगी। संघ ने अपनी गतिविधियों के हिसाब से देश को 50 हज़ार मंडलों में बाँटा है। आजकल 22.5 हज़ार मंडलों में 35 हज़ार से ज़्यादा शाखाएँ काम कर रही हैं। देश भर में संघ के 64 हज़ार 726 सेवा प्रकल्प काम कर रहे हैं। संघ शिक्षा के क्षेत्र में अपनी पकड़ मज़बूत कर रहा है। विद्या भारती के नाम से संघ आज 25 हज़ार शिक्षण संस्थाओं का संचालन कर रहा है जिसकी संख्या इस साल बढ़ाये जाने की उम्मीद है। संघ देश में एक लाख से ज़्यादा शाखाओं के माध्यम से हिंदुत्व का प्रचार करेगा।

गुजरात

गुजरात जनसंहार राज्य सरकार प्रायोजित और तत्कालीन केंद्र सरकार समर्थित था इसकी अब एक और पुष्टि हो गयी है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की याचिका पर रिट में सुप्रीम कोर्ट के आदेश की वजह से गुजरात सरकार चार साल पहले हुए सांप्रदायिक दंगों के 1594 मामलों की फिर से जांच करने का फैसला लेने के लिये मजबूर हो गयी है। विभिन्न हिस्सों में फैले दंगों में पुलिस अधिकारियों की भूमिका को लेकर 41 पुलिस अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई शुरू की जायेगी। पुलिस इन दंगों में 600 लोगों को गिरफ्तार करेगी और 13 नये मामले दर्ज करेगी। गुजरात पुलिस के महानिदेशक ए के भार्गव की अध्यक्षता में दंगा जांच समिति ने, जिसे सुप्रीम कोर्ट के उन 2000 मामलों को दोबारा जांच करने के लिये गठित किया था, अपनी रिपोर्ट में कहा है कि 1594 मामले ऐसे हैं जिन्हें पुलिस ने ये कहकर रफादफा किया था कि अभियुक्तों के खिलाफ कोई सबूत नहीं है।

इस रिपोर्ट से साफ साबित होता है जिन लोगों के हाथ बेकसूर और निरीह लोगों के खून से रंगे थे, उनको किस हद तक बचाने की कोशिश की गयी थी। साथ ही ये भी साबित होता है कि समिति के अध्यक्ष भी किस तरह अपने साथियों को बचा गये। ये काबिले यकीन नहीं लगता कि राज्यव्यापी जनसंहार में सिर्फ 41 पुलिस अधिकारी और कर्मी कसूरवार पाये गये। 13 नये मामले दर्ज करने से साफ साबित होता है कि मोदी सरकार इन दंगों में किस तरह और किस हद तक शामिल थी।

मार्च में इस साल राज्य समर्थित गुजरात जनसंहार की चौथी एनीवर्सरी पर भूतवाड़ा में मिले कंकालों ने भाजपा की संप्रदाय और नस्ली नफरत पर टिकी संकीर्ण राजनीति के भयानक चेहरे को एक बार फिर जनता के सामने ला खड़ा किया है। माना जाता है कि 1 मार्च 2002 को विश्व हिंदू परिषद और भाजपा के कार्यकर्ताओं ने पंचमहल ज़िले के पांडरवाड़ा में छुरे, चाकू और तलवारों से अल्पसंख्यकों (मुस्लिमों) पर हमले किये और 26 लोगों की हत्या कर दी। रात को ही पुलिस इन शवों को गाड़ी में डालकर ले गयी और पानम नदी के पुल के पास टीले में गड्ढा खोदकर इन लाशों में से 21 को दफना दिया गया और 5 कहाँ गयीं इसका आज तक पता नहीं है। आज जब ये शव बरामद हो गये हैं तो सवाल उठता है क्यों न तो गुजरात सरकार और न ही पुलिस ने मृतकों के परिजनों को इस सच के बारे में नहीं बताया।

बनर्जी आयोग की रिपोर्ट से भी साफ साबित हो गया है कि गोधरा में साबरमती के डिब्बों में लगी आग प्रायोजित नहीं थी बल्कि वो एक हादसा था। इसका मतलब साफ है कि गुजरात जनसंहार, जिसमें 1000 से ज़्यादा मुसलमान मार दिये गये और हज़ारों बेघर कर दिये गये, गुजरात सरकार और प्रशासन द्वारा पूर्व नियोजित था और केंद्र सरकार द्वारा इस जनसंहार को खामोश देखते रहना अपरोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से केंद्र सरकार का समर्थन दिखाता है। ये अब एक सच के रूप में स्थापित हो चुका है।

गुजरात में मेहसाना ज़िले के भाजपा के पूर्वाध्यक्ष जासुभाई पटेल ने ऐलान किया है कि जो कोई भी एम.एफ.हुसैन की आँखें निकाल और उसका दांये हाथ का अंगूठा काट कर

लायेगा उसे वो एक किलो सोना देंगे। ये इनाम इसलिये दिया जायेगा क्योंकि हुसैन हिंदू देवियों और भारतमाता को अपनी पेंटिंग्स में अभद्र तरीके से पेश करते हैं।

गुजरात में डांग में शबरी कुंभ मेले के दौरान आरएसएस ने धर्मातंरण के खिलाफ ज़हर उगला। संघ प्रमुख सुदर्शन ने कहा कि धर्मान्तरण तेज़ी से बढ़ा है और हिंदू कुंभकरण की तरह सो रहे हैं। उन्होंने अपने भाषण में एक अप्रत्यक्ष आदेश कट्टरपंथियों को दिया और वो था कि वे आगे बढ़ें और धर्मान्तरण करा रहे ईसाइयों का जीना दूभर कर दें। संघ प्रमुख ने कहा कि देश की 18 फीसदी आबादी को ईसाई बना दिया गया और हिंदू सोते रहे। ये बात याद रखने के लायक है कि आरएसएस की उग्र हिंदुत्व विचारधारा का पालन संघ के कार्यकर्ताओं के अलावा भाजपा के नेता भी करते हैं। इस कुंभ में भाजपा शासित राज्यों के सभी मुख्यमंत्री सभी उपस्थित थे। ज़ाहिर है कि आने वाले दिनों में भाजपा शासित राज्यों में ईसाईयों पर हमले बढ़ेगें।

इस शबरी कुंभ का संघ परिवार के विहिप और वनवासी कल्याण परिषद ने आयोजन किया। मेले का मुख्य उद्देश्य ईसाइयों का री–कनर्वजन (पुनः धर्मातंरण) यानी घर वापसी था। ये कुंभ प्रमुख तौर पर ईसाई समुदाय के लोगों को डराने और धमकाने के लिये गया था। इस मेले में ईसाइयों को आसुरी शक्ति बताने वाली कॉमपैक्ट डिस्क (सीडी) का प्रदर्शन और वितरण भी किया गया। इस सीडी में बताया गया था कि अल्पसंख्यक (यहां ईसाई) समुदाय के लोग पूर्वोत्तर भारत की तर्ज़ पर धर्मान्तरण और आतंकवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। मेले से पहले और मेले के दौरान हिंदुओं के घरों पर भगवा झंडे लगाये गये जो अपने आप में साफ–साफ मंशा बताते हैं।

छत्तीसगढ़

गुजरात जनसंहार के दौरान एक बात साफ हो गयी थी कि आरएसएस के लिये प्रचारक नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में गुजरात एक प्रयोगशाला थी जिसमें सांप्रदायिकता और मुस्लिम विरोधी नीतियों को सरकारी तौर पर फैलाया और लागू किया। पिछले कुछ महीनों से ऐसा लग रहा है कि आरएसएस वही सब छत्तीसगढ़ में कर रही है। जिस तरह भाजपा सरकार आरएसएस और संघ परिवार की गतिविधियों को अघोषित समर्थन दे रही है इससे तो यही लगता है। भाजपा अपने हिंदुत्व के एजेंडे को सांस्कृतिक और धार्मिक आयोजनों की मार्फत पूरा कर रही है। इसके तहत छत्तीसगढ़ में जगह–जगह स्थित धार्मिक, सांस्कृतिक और पुरातात्विक साझी धरोहरों को चिन्हित कर उन्हें धर्म, संस्कृति और पर्यटन से जोड़ने की कोशिश कर रही है। ये प्रयास हाल ही में हुए राजिम कुंभ में साफ–साफ नज़र आये। देशभर से आये 1800 साधु संत और शंकराचार्यों के माध्यम से हिंदुत्व का झंडा फहराने की पूरी कोशिश की गयी। सरकार ने हज यात्रा की तर्ज़ पर कैलाश मानसरोवर की यात्रा के लिये 50 फीसदी अनुदान देने का ऐलान किया है। राजिम कुंभ के दौरान सरकार ने दो साल की उपलब्धियों से भरे साहित्य के अलावा हिंदुत्व की पैरवी करने वाला साहित्य बांटा। इसके साथ–साथ ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों और धर्मान्तरण की भरपूर आलोचना की। छत्तीसगढ़ की सरकार ने ऐलान किया है कि ये राजिम कुंभ हर साल लगाया जायेगा और इसके लिये 20 करोड़ रूपये हर साल के बजट में प्रावधान किया गया है। मतलब साफ है कि भारतीय धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में करदाता का पैसा अब छत्तीसगढ़ सरकार हर साल 20 करोड़ रुपये सरकारी तौर पर सांप्रदायिकता फैलाने और ईसाई विरोध करने के लिये खर्च करेगी। ये पूरी तरह मुमकिन है कि भाजपा की सारी सरकारें किसी न किसी रूप में करदाता का पैसा सांप्रदायिकता फैलाने और अल्पसंख्यक विरोध के लिये सरकारी बजट के माध्यम से हर साल खर्च कर रही हैं।

ऊपर लिखी मिसालें साफ–साफ बताती हैं कि भाजपा शासित राज्यों में सरकार और प्रशासन के समर्थन से संघ परिवार सांप्रदायिकता फैला रहा है, अल्पसंख्यक विरोधी कानून पास कर रहा है, मुसलमानों के साथ–साथ अब ईसाइयों को भी निशाना बना रहा है, शिक्षा का भगवाकरण करके सामाजिक समन्वय और सौहार्द को नष्ट किया जा रहा है और ध्यान में रखने लायक बात ये है कि ये सब भाजपा सरकारें करदाता के पैसे से कर रहीं हैं। मतलब भाजपा–आरएसएस भारत के धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की जड़ें खोखली कर रहे हैं।

सभी धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और लोकतांत्रिक ताकतों के लिए ये बहुत चिंताजनक बात है। इन ताकतों को देश के हित में सक्रिय होना ही होगा। साथ ही यूपीए सरकार को इन सांप्रदायिक गतिविधियों का संज्ञान लेना होगा और असंवैधानिक गतिविधियों को कानूनों के माध्यम से रोकना होगा।

साथियों,

हम उम्मीद करते हैं कि आई.एस.डी. का न्यूज़लैटर ‘समरथ’ आपको नियमित रूप से मिल रहा है। हम चाहते हैं कि आप ‘समरथ’ पर अपनी आलोचना, प्रतिक्रियाएं और सुझाव भेजें वो चाहे विषयों के चयन पर हो या फिर भाषा और शैली को लेकर। साथ ही ये भी बताएँ कि आप किन और विषयों को ‘समरथ’ में जोड़ना चाहेंगे। ये हमें ‘समरथ’ को और भी उपयोगी बनाने में मदद करेगा। हमें आपके ख़तों का इंतज़ार रहेगा। सधन्यवाद।

आई.एस.डी.

राज्य का पीछे हटना – किस कीमत पर?

एन.जे.कुरियन

क्या आर्थिक उदारीकरण की विचारधारा नामक दवा हमारे नीति–निर्माताओं को चेतनाशून्य बना देती है? अगर ऐसा नहीं है तो उन्हें यह क्यों दिखाई नहीं देता कि देश के असंख्य गरीबों का क्या हश्र हो रहा है। जब हमारे नीति निर्माता बाज़ार की विचारधारा को बढ़ावा देने में मसरूफ नहीं होते उस वक्त भी वह स्वास्थ्य, शिक्षा, पानी, साफ–सफाई और ग्रामीण रोजगार आदि क्षेत्रों से राज्य के हस्तक्षेप और मौजूदगी को समेटने में ज़रूर लगे रहते हैं। ये सारे ऐसे क्षेत्र हैं जो गरीबों के जीवनस्तर और जीवन की गुणवत्ता को गहरे तौर पर निर्धारित करते हैं। आज हमारे देश के ग्रामीण इलाके राज्य की इस वापसी का सबसे ज़्यादा दंश झेल रहे हैं जबकि दिल्ली, बड़े–बड़े महानगरों और राज्य की राजधानियों में बैठे शासक और अभिजात्य तबके के लोग भारतीय राज्य के महाशक्ति बनने का गुणगान करते नहीं थकते। सच तो यह है कि शहरों में दिखाई देने वाली चमक–दमक भी सिर्फ अभिजात्य और शिक्षित मध्यम वर्ग के उपभोग के लिए ही उपलब्ध है। बाज़ार की ताकतें झोंपड़पट्टी वासियों और ऐसे तबकों को अनदेखा करके निकल जाती हैं जिन्हें वैश्विक होते बाज़ारों से न तो कुछ मिलना है और न वह उसे कुछ दे सकते हैं।

दिल्ली और राज्य की राजधानियों में बैठे शासक अभिजन इस बात से अनभिज्ञ और बेपरवाह दिखाई देते हैं कि पिछले 15 सालों में कृषि संकट और ग्रामीण जनता की बेचैनी किस हद तक पहुंच चुकी है। दिल्ली में बैठे 'सुधारों के दुंदुभीवादकों' में से ज़्यादातर तथाकथित पब्लिक स्कूलों की पैदाइश हैं और उन्हें ब्रिटेन और अमेरिका के बड़े–बड़े शिक्षा संस्थानों में उच्च शिक्षा मिली है। ग्रामीण परिदृश्य से उनकी वाक़फियत जब–तब निमराणा पैलेस और अन्य पांच सितारा इमारतों और स्थानों पर दौरे तक सीमित है जहां जाकर वह गरीबी पर बौद्धिक भाषणबाज़ी करते हैं।

सबसे गहरे कृषि संकट से गुज़रने वाला राज्य आंध्र प्रदेश है। वहां हाल के सालों में सबसे ज़्यादा किसानों ने खुदकुशी की है। यह कोई संयोग मात्र नहीं है कि इसी राज्य में कृषि क्षेत्र से राज्य के हस्तक्षेप और वापसी का रुझान सबसे तेज़ रहा है। कृषि क्षेत्र को सहायता देने के लिए बनाए गए सरकारी और अर्द्धसरकारी सहायक संस्थान या तो भंग किए जा चुके हैं या उन्हें काफी कमज़ोर बना दिया गया है। अंकुशों और कायदे–कानूनों से आज़ाद बाज़ार की ताकतों को बीज, उर्वरक, कीटनाशक और ऋण बाज़ार में खुलकर खेलने की छूट दे दी गई है। हैदराबाद सेंटर ऑफ दि काउंसिल फॉर सोशल डिवेलपमेंट ने हाल ही में आंध्र प्रदेश के 5 ज़िलों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन से पता चला कि खुदकुशी करने वाले ज़्यादातर छोटे और सीमांत किसान थे जिन्होंने महाजनों से कर्ज़ा लेकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बीज और अन्य ज़रूरी चीज़ें खरीदी और व्यावसायिक खेती में भाग्य आज़माने का फैसला किया था। कई अन्य राज्यों में भी कृषि विस्तार व्यवस्था मृतप्रायः हो चुकी है। अन्य दक्षिणी राज्यों में भी बागानी फसलों और मसालों की खेती करने वाले छोटे किसान गहरे संकट में हैं। वह वैश्विक बाज़ार शक्तियों के हमले का मुकाबला करने में सक्षम नहीं हैं। इन किसानों को सुरक्षा और संरक्षण मुहैया कराने के लिए बनाए गए कॉमॉडिटी बोर्ड्स निर्जीव हो चुके हैं।

संकट की गहराई का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि राज्य सरकार केंद्र सरकार से इस बात के लिए बार–बार आग्रह करती रहती है कि राज्य के कुछ और ज़िलों को 'माओवादी उग्रवादियों से ग्रस्त' घोषित कर दिया जाए। कई राज्यों में ग्रामीण असंतोष बहुत तेज़ी से फैलता जा रहा है। देश के मध्य एवं पूर्वी भागों में स्थित ज़्यादातर जनजातीय पट्टी गहरी उथल–पुथल से गुज़र रही है। ज़मीन से बेदखली और आजीविका से जुड़े मुद्दे इस उथल–पुथल का सबसे बड़ा कारण हैं। हालांकि केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (एनआरईजीपी) के ज़रिए निश्चित रोज़गार मुहैया कराने की ज़रूरत समझ ली है लेकिन अभी भी ज़्यादातर राज्य सरकारें इस बात को नहीं समझ पा रही हैं कि ज़मीन से बेदखल हो चुके गरीबों को दोबारा ज़मीन पर मालिकाना हक़ दिलाना कितना ज़रूरी है। भूमि सुधारों का मुद्दा राज्य के पीछे हटने का एक अच्छा उदाहरण है। भूमि सुधारों का एजेंडा दशकों से कानून और नीति दस्तावेज़ों में दर्ज़ है लेकिन उस पर कोई कार्रवाई नहीं होती।

राजनीतिक वर्ग ऐसा दिखावा कर रहा है कि अब ज़मीन का मुद्दा सिर्फ व्यावसायिक और अनुबंध कृषि के लिहाज़ से ही अहमियत रखता है। जब भी कोई निष्ठावान कलेक्टर या सब डिविजनल अफसर असली मालिकों को उनकी ज़मीन दिलाने की कोशिश करता है या भूमि सुधार कानूनों के दूसरे आयामों को लागू करने की कोशिश करता है तो उसे या तो छुट्टी पर भेज दिया जाता है या उसका तबादला कर दिया जाता है। इशारा साफ है। 73वें संविधान संशोधन को पारित हुए एक दशक से ज़्यादा समय हो चुका है। इस दौरान के अनुभवों से साफ पता चलता है कि पंचायतों का कामकाज अभी भी अपेक्षाकृत रूप से उन्हीं राज्यों में संतोषजनक है जहां भूमि सुधार एक हद तक लागू हो चुके हैं। गांवों की सत्ता संरचना अभी भी भूस्वामित्व संरचना से ही निर्धारित होती है। जब तक परंपरागत भूमि–केंद्रित सत्ता को गंभीर भूमि सुधारों के ज़रिए कमज़ोर नहीं किया जाएगा तब तक पंचायतें भी लोकतांत्रिक ढंग से काम नहीं कर पाएंगी।

भूमि सुधार लागू करने में विफलता की वजह से ग्रामीण गरीबों को आजीविका के बहुत सारे अवसर नहीं मिल पा रहे हैं। रही–सही कसर सामाजिक क्षेत्रों से राज्य के पीछे हट जाने ने पूरी कर दी है। शिक्षा, स्वास्थ्य, जलापूर्ति और साफ–सफाई इस समस्या के सबसे ज्वलंत उदाहरण हैं। प्राथमिक शिक्षा को संविधान के अनुच्छेद 21–ए के अंतर्गत 2003 से मौलिक अधिकार का दर्ज़ा भले दे दिया गया हो लेकिन यह अभी भी स्पष्ट नहीं है कि इस अधिकार को साकार करने की ज़िम्मेदारी किसके ऊपर है। कोई नहीं जानता कि यह केंद्र सरकार, राज्य सरकार, पंचायत/नगरपालिका या खुद मां–बाप की ज़िम्मेदारी है कि वह अपने बच्चे के अधिकार की रक्षा करें? शैक्षणिक क्षेत्र से राज्य की वापसी पूरे देश में बहुत बड़े पैमाने पर दिखाई दे रही है।

निजी स्कूल न केवल शहरों और कस्बों में फैलते जा रहे हैं बल्कि ग्रामीण इलाकों, खासतौर से शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े इलाकों के संपन्न हिस्सों में भी पहुंच चुके हैं। इस समस्या के बारे में यह दलील अकसर दी जाती है कि सरकारी स्कूलों में अच्छी पढ़ाई नहीं होती। फलस्वरूप सरकारी स्कूलों को 'हाशियाई' तबके के बच्चों के लिए मान लिया गया है। परन्तु यह सवाल विरले ही कभी उठ पाता है कि इन स्कूलों में पढ़ाई क्यों नहीं होती, उन्हें और बेहतर कैसे बनाया जा सकता है, वगैरह। ज़्यादातर लोकतांत्रिक देशों में 'साझा शिक्षा' की व्यवस्था लागू है लेकिन हमारे सामाजिक विमर्श में इस संकल्पना पर गंभीरता से विचार तक नहीं किया जाता। कोठारी आयोग ने 1966 में सुझाव दिया था कि शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम 6 प्रतिशत खर्च होना चाहिए। यह लक्ष्य अभी भी एक सपना बना हुआ है।

स्वास्थ्य व्यवस्था के मामले में भी स्थिति ऐसी ही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) ने सालों पहले कहा था कि सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था पर राष्ट्रीय आय का कम से कम 5 प्रतिशत खर्च होना चाहिए। हमारे देश में यह खर्च केवल 0.9 प्रतिशत रहा है। दुनिया के तमाम बड़े देशों से तुलना की जाए तो स्वास्थ्य पर हम जीडीपी का सबसे कम प्रतिशत खर्च करते हैं। और तो और, बंगलादेश और पाकिस्तान भी इस मामले में हमसे आगे हैं। हमारे देश में स्वास्थ्य पर खर्च होने वाली राशि का सिर्फ 20 प्रतिशत सरकार के खजाने से आता है। बाकी 80 फीसदी खर्च लोग खुद अपनी जेब से करते हैं। इसके विपरीत ज़्यादातर विकसित देशों में स्वास्थ्य संबंधी व्यय का 60 प्रतिशत से भी ज़्यादा (स्कैंडिनेवियाई देशों में तो 80 प्रतिशत से भी ज़्यादा) खर्च सरकारी खज़ाने से होता है। यहां तक कि अमेरिका, जहां निजी स्वास्थ्य व्यवस्था का चौतरफा दबदबा दिखाई देता है, में भी स्वास्थ्य पर होने वाला 40 प्रतिशत खर्चा सरकार वहन करती है। इसके अलावा, वहां निजी स्वास्थ्य व्यवस्था का खर्च भी ज़्यादातर बीमा कंपनियां ही संभालती हैं। भारत में भी स्वास्थ्य बीमा व्यवस्था को बड़े पैमाने पर बढ़ावा दिया जा रहा है। लेकिन यह बात अभी भी समझ के परे है कि अगर स्वास्थ्य संबंधी बुनियादी ढ़ांचा ही नहीं होगा तो ग्रामीण गरीब स्वास्थ्य बीमे का भी क्या फायदा उठा पाएंगे। अगर बहस के स्तर पर हम यह मान लें कि बीमा कंपनियां शहरों में खुल रहे बड़े अस्पतालों में दाखिल होने पर ऐसे मरीज़ों का खर्च उठा लेंगी तो भी सवाल यह है कि हमारे देश के गरीब दवाइयों की भारी–भरकम कीमत कैसे वहन करेंगे?

जलापूर्ति और साफ–सफाई के मामले में भी हालात खास अलग नहीं हैं। एक अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन में बताया गया है कि दुनिया भर में गंदगी और खराब जलापूर्ति की वजह से मरने वाले बच्चों में 30 प्रतिशत से ज़्यादा भारत के होते हैं। जब सरकारी व्यवस्था अपने शिखर पर थी तब भी इन क्षेत्रों में सरकारी तंत्र की सक्रियता बहुत सीमित थी। इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में और गंभीर प्रतिबद्धताएं व्यक्त करने की बजाय अब राज्य अपनी बुनियादी ज़िम्मेदारियों को त्यागता जा रहा है। ज़्यादातर ग्रामीण इलाकों और छोटे कस्बों में सार्वजनिक तंत्र धनाभाव के कारण दम तोड़ने की कगार पर पहुंच गया है। कुछ महानगरों में साफ–सफाई की व्यवस्था निजी कंपनियों को सौंप दी गई है। बहुत सारे स्थानों पर जलापूर्ति पहले ही निजी स्रोतों से हो रही है, जैसे टैंकरों आदि के ज़रिए।

पिछले 50 साल से हम समतावादी सिद्धांतों पर आधारित एक आधुनिक भारतीय राज्य की बुनियाद डालने का प्रयास कर रहे हैं। इतना समय बीत जाने के बाद भी हम अपने मकसद में कामयाब नहीं हो पाए हैं। लेकिन संस्थान और व्यवस्थाएं अस्तित्व में आ चुकी हैं। गांव–गांव में प्राथमिक स्वास्थ्य उप–केंद्रों और प्राथमिक पाठशालाओं से शुरू करके हमने एक व्यापक संस्थागत आधार विकसित किया है। ये संस्थान हर जगह प्रभावी या समतापरक ढ़ंग से काम नहीं कर रहे हैं। फिर भी देश के कुछ हिस्सों में ये संस्थान ज़रूर कामयाब हुए हैं। अब हमारे सामने चुनौती यह है कि उन्हें और असरदार कैसे बनाया जाए। अगर हमने इस चुनौती को फौरन स्वीकार नहीं किया तो उपेक्षा की वजह से ये संस्थान बेमौत मारे जाएंगे। कुछ लोग उन्हें तबाह करने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दे रहे हैं। उनका इरादा यह दिखाई देता है कि राज्य के पीछे हटने से जो दायरा खाली हुआ है वहां निजी ताकतों को जमकर मुनाफा कमाने की छूट दी जाए। क्या हमारे मतदाताओं का बहुमत, हमारे देश के गरीब इस दलील से संतुष्ट हो सकते हैं कि देश की विकास दर बहुत ऊंची है जबकि उनका अपना जीवन स्तर गिरता जा रहा है?

वैश्वीकरण से किसी बुनियादी दुश्मनी का कोई औचित्य नहीं है। भला इसमें क्या शक है कि भारत जैसा देश वैश्विक आर्थिक व्यवस्था से कट कर तरक्की नहीं कर सकता। लेकिन वैश्वीकरण एक दुधारी तलवार की तरह है। अगर इसका संयत ढ़ंग से इस्तेमाल किया जाए तो यह मददगार हो सकता है वरना तो यह आत्मघाती ही सिद्ध होगा। जो लोग भारत के हालिया प्रदर्शन का चीन से मुकाबला करते हुए भारत को

लानत–मलामत भेजते रहते हैं वह दोनों देशों के बीच एक बुनियादी फर्क को नज़रअंदाज़ कर रहे हैं। चीन एक ऐसी क्रांति से गुज़र चुका है जिसने वहां भारत के मुकाबले एक ज़्यादा समतापरक समाज की स्थापना की थी। भारत में ऐसा नहीं हुआ। चीन एक ज़्यादा मज़बूत समतापरक बुनियाद के सहारे बाज़ार आधारित पूंजीवादी राजमार्ग पर चल रहा है। इस राजमार्ग पर चलने की तमन्ना तो हम भी रखते हैं लेकिन हमारे पास इस काम के लिए पर्याप्त इच्छाशक्ति नहीं है। ऐसे में इस रास्ते पर हादसे की आशंका हमारे लिए बहुत ज़्यादा है!

(श्री एन.जे.कुरियन नई दिल्ली स्थित काउंसिल फॉर सोशल डिवेलपमेंट के निदेशक हैं)।

पृष्ठ 16 का शेष..........

अमेरिका पचास और साठ के दशक से ही बोलिविया के सैनिक मामलों में दखलंदाजी करता रहा है। पचास और साठ के दशक में बोलिविया की क्रांतिकारी ताकतें काफी मज़बूत थीं। उस वक्त अमेरिका को बोलिविया में "आंतरिक अस्थिरता" का भय खाए जा रहा था। अर्जेंटीना में भाड़े के अमेरिकी सिपाहियों के ज़रिए ही शुरुआती प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाए गए थे। इसी का नतीजा था कि 1963 तक आते–आते बोलिविया में अमेरिका के नॉर्थ कैरोलिना स्थित फोर्ड ब्रेग संयुक्त राज्य सैन्य विशेष कल्याण स्कूल से शिक्षा प्राप्त स्नातकों की संख्या लैटिन अमेरिका के किसी भी देश से ज़्यादा हो चुकी थी। उसी समय प्रत्यक्ष सैनिक सहायता में भी भारी इज़ाफा किया गया। उस वक्त की कीमतों के हिसाब से 1958 में यह सहायता 1,00,000 डॉलर थी जो 1964 में 32,00,000 डॉलर तक पहुंच गई थी। 1962–63 में स्कूल ऑफ अमेरिकाज़ में 659 अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया गया था जबकि बोलिवियाई सैनिकों के 23 वरिष्ठतम अफसरों में से 20 को लंबे दौर के लिए वहां बुलाया गया था। चे गुएवारा की हत्या इस मुहिम की सबसे ऐतिहासिक उपलब्धि थी। अमेरिकी एजेंसियों की सहायता से लैस इन अधिकारियों और उनके मातहतों ने ही बोलिविया में क्रांतिकारी और लोकप्रिय ताकतों का दमन करके वहां निरंकुश सैनिक तानाशाही की स्थापना की थी। इस तानाशाही शासन ने ही बोलिविया में अल्पतंत्र के शासन और नवउदारवादी व्यवस्था के बीज बोए थे। तभी से बोलिवियाई सेना अमेरिका के पालतू कुत्ते जैसा व्यवहार करती रही है। आज बोलिविया के सुरक्षा तंत्र पर अमेरिका के इस कब्ज़े को "नशीली दवाओं के खिलाफ लड़ाई" के नाम पर जारी रखा जा रहा है। हाल के सालों में इस "लड़ाई" पर "आतंकवाद के खिलाफ जंग" की कलम चढ़ा दी गई है।

पिछले चार सालों से जैसे–जैसे बोलिविया में जनांदोलन तेज़ होते गए हैं वैसे–वैसे अमेरिका भी यहां सैनिक और 'सामाजिक' सहायता के नाम पर ज़्यादा से ज़्यादा पैसा झोंकता गया है। इस दौरान अमेरिकी सरकार 15 करोड़ डॉलर से ज़्यादा पैसा इस देश में झोंक चुकी है। यह पैसा मोटे तौर पर नशीली दवाओं के व्यापार को रोकने के नाम पर यहां लगाया गया है। जानकारों का कहना है कि वास्तव में इससे भी ज़्यादा राशि बोलिविया में खर्च की जा रही है। कथित "नशीली दवाओं के खिलाफ लड़ाई का मुख्य निशाना कोलंबिया है जिसकी सीमा वेनेज़ुएला से सटी हुई है और इसलिए वह सैनिक दृष्टि से अमेरिका के लिए काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन बोलिविया में भी यह युद्ध तकरीबन दर्जन भर अलग–अलग एजेंसियों के ज़रिए चलाया जा रहा है। इन सभी एजेंसियों को अमेरिका से पैसा मिलता है और ये एजेंसियां अपने इस 'युद्ध' को कामयाब बनाने के लिए बोलिवियाई समाज के हर कोने तक अपने पंजे फैला चुकी है।" 2003 के बाद बोलिवियाई सेना और पुलिस बलों को मिलने वाले अमेरिकी प्रशिक्षण और तकनीकी सहायता में दिन–दुनी रात–चौगुनी वृद्धि हुई है। जैसे–जैसे मोरालेस की जीत निश्चित दिखाई देने लगी वैसे–वैसे बोलिवियाई सेना और पुलिस पर अमेरिका का ज़ोर भी बढ़ता गया। ठीक ऐसे ही हालात चालीस साल पहले क्रांतिकारी दौर में पैदा हुए थे। इस बार फिर लैटिन अमेरिका में बोलिविया अमेरिकी सैनिक सहायता हासिल करने वाला कोलंबिया के बाद दूसरा देश बन गया है। इस दौरान यह प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले बोलिवियाई कर्मचारियों की संख्या 2000 में 531 से बढ़कर 2003 में 2054 तक पहुंच गई थी। पड़ोसी देश पेरागुवे में भी अमेरिका बड़े पैमाने पर हथियार और सैनिकों को तैनात कर रहा है। कुल मिलाकर अमेरिका प्रशिक्षित सेना और अमेरिका समर्थक अल्पतंत्रीय सत्ता केंद्रों का यह गठजोड़ बहुत ताकतवर है। हो सकता है मोरालेस इस गठजोड़ को परास्त भी कर दें लेकिन उनका सफर आसान नहीं होगा। आगे आने वाली चुनौतियों को देख कर तो यही लगता है कि एक ऐतिहासिक जनांदोलन की लहर पर सवार होकर हासिल की गई सत्ता का सुख किसी भूकंप से पहले पिकनिक जैसे अहसास से ज़्यादा नहीं हो सकता।

यह आलेख एंडीज़ से सटे देशों तथा समूचे लैटिन अमेरिका में एक आवेग भरे जनांदोलन के फलस्वरूप ईवो मोरालेस को मिली अप्रत्याशित चुनावी जीत से वहां के सत्ता समीकरणों में आए ऐतिहासिक बदलाव का एक फौरी विश्लेषण है। बोलिविया के मौजूदा हालात को समझने के लिए जिन बाकी चीज़ों पर ध्यान देना निहायत ज़रूरी है उन्हें जगह की कमी के कारण हम यहां शामिल नहीं कर पा रहे हैं। उन्हें बाद के किसी लेख में शामिल किया जाएगा। लेकिन एक वृहत्तर स्थिति का उल्लेख फिलहाल किया जा सकता है। **बोलिविया और पेरू, दोनों पड़ोसी देश हैं। दोनों देशों के देशी समुदाय**

शेष पृष्ठ 11 पर.......

परमाणु समझौता – कई नज़रियों से खराब सौदा

प्रफुल्ल बिदवई

अमेरिका से हुए परमाणु समझौते में भारत को अल्पकालिक फायदे बेहद मामूली हैं। ये फायदे हैं भारत को वास्तविक परमाणु हथियार सम्पन्न राज्य के रूप में मान्यता, भारत को सामरिक साझेदारी का दर्जा, विश्व परमाणु व्यवस्था में उसे जगह देना और यूरेनियम ईंधन और परमाणु रिएक्टर बेचने की पेशकश करना। अगर ईमानदारी से कहा जाए तो इस समझौते के मूल में एक मानवद्वेषी मकसद है और वह है इन दोनों देशों के बीच सामरिक साझेदारी या गठबंधन पर मोहर लगाकर मानवजाति के लिए सबसे ज़्यादा विनाशकारी हथियारों का औचित्य सिद्ध करना। असैनिक परमाणु शक्ति का मुद्दा तो दूसरे स्थान पर आता है। इतिहास को देखें तो पिछले 30 वर्ष से भारतीय नीति–निर्माता भारत को एक 'ज़िम्मेदार' मित्रवत् और 'भरोसेमंद' ताकत के तौर पर मान्यता और अनुमोदन प्रदान करने के लिए अमेरिका से याचना करते रहे हैं।

शीतयुद्ध समाप्त होने के बाद यह अभिलाषा बहुत ज़्यादा तीव्र हो उठी। भारत को परमाणु हथियार संपन्न राज्य का दर्जा, अमेरिका द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने की दिशा में पेश आ रही मुख्य अड़चनों में से एक थी। दूसरी अड़चनें थीं – निर्गुटता और भारत द्वारा तीसरे विश्व के उद्देश्यों को बढ़ावा देना, जिसमें नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, न्यायपूर्ण व्यापार और कर्ज़ की माफी आदि मुद्दे शामिल थे। भारत द्वारा 1999 के आरंभ में बाज़ार–अनुकूल आर्थिक नीतियां अपनाए जाने के साथ ये सब अड़चनें धीरे–धीरे हटती चली गईं। अब अमेरिकी सामारिक घेरे में पहुंचने की आखिरी अड़चन भी दूर हो गई है। भारत के साथ इस समझौते पर अमेरिका के दस्तख़त करने और तात्कालिक मेहरबानी की मूल वजह है एक उदीयमान शक्ति को सहयोजित करना। इसके बहुत बड़े बाज़ार में पैठ बनाना और चीन तथा (ज़्यादा फौरी तौर पर) ईरान के खिलाफ प्रतिभार तैयार करना और सामान्य रूप से एक छोटे साझेदार के तौर पर भारत को विश्व मामलों से संबंधित अमेरिकी योजना का हिस्सा बनाना। जैसा कि श्री बर्न्स ने कहा है, 'आर्थिक लाभ अरबों में होने वाला है... क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था विशाल है और असैनिक परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में वे विस्तार करने की योजना भी बना रहे हैं।' अमेरिकी रक्षा उद्योग की भी अरबों डालर के हथियार अनुबंधों पर निगाह लगी है। लेकिन 'सामरिक साझेदारी' की पहुंच इससे भी परे तक है। इससे स्वतंत्र नीति निर्माण में हमारे पास ज़्यादा विकल्प नहीं रह जाएंगे। किसी भी स्वाभिमानी और प्रतिष्ठित राष्ट्र के लिए अपने साझेदार बनाना या अपनी नीतिगत स्वायत्तता को खत्म कर देना शर्म की बात है। लेकिन भारत के मामले में ठीक ऐसा ही होने जा रहा है। सिंह–बुश के संयुक्त बयान से यह पता चलता है कि अमेरिका ने भारत से बड़ी–बड़ी आर्थिक और राजनीतिक रियायतें हासिल कर ली हैं।

एक साम्राज्य तैयार करने की अमेरिकी योजना में सह–अपराधी बनकर भारत ने विश्व का एक बहुत बड़ा नुकसान किया है। इसके अलावा भारत ने अपने और हर किसी अन्य देश के परमाणु हथियारों को दोषमुक्त करार देकर भी एक खेदजनक काम किया है। **जिस महाउद्देश्य का समर्थन भारत वर्ष ने पिछले 60 वर्षों तक किया, जिसकी ओर लौटने का वादा डा. सिंह ने भी किया, उसका भारत ने परित्याग कर दिया है। इससे विश्व में एक नकारात्मक मिसाल कायम हो जाएगी।** ऐसे में जब परमाणु हथियार सम्पन्न राज्य परमाणु अप्रसार निरोधक संधि के अनुच्छेद छह का उल्लंघन करते हुए अपने परमाणु हथियारों को समाप्त करने से इनकार कर रहे हैं। इस नकारात्मक मिसाल के गैर परमाणु राज्यों द्वारा संयम बरते जाने का मामला और भी कमज़ोर पड़ जाएगा।

किए जा रहे प्रचार के विपरीत, परमाणु समझौते से भारत की ओर से संयम बरते जाने के मामले को बढ़ावा नहीं मिलेगा। भारत की सैनिक परमाणु क्षमता बढ़ जाएगी। असैनिक कार्यक्रम के लिए यूरेनियम का आयात करके भारत घरेलू (और दुर्लभ) यूरेनियम का इस्तेमाल केवल हथियारों के लिए कर सकता है। अमेरिकी समर्थन में भारत द्वारा परमाणु हथियार बनाए जाने के परिणामस्वरूप ईरान और कोरिया जैसे देशों को बहाना मिल जाएगा और जर्मनी, जापान, स्वीडन, ब्राज़ील और दक्षिणी अफ्रीका जैसे देश, जिन्होंने परमाणु हथियारों का त्याग कर दिया था, इस बारे में पुनर्विचार करने पर मजबूर हो जाएंगे। ऐसे समय पर जबकि भारत–पाकिस्तान के बीच चल रही बातचीत एक नाजुक मोड़ पर पहुंच चुकी है अमेरीकी सरकार ने भारत के पक्ष में स्पष्ट झुकाव के कारण इस सौदे से पाकिस्तान में रोष उत्पन्न हो जाएगा। इससे हथियारों की दौड़ भी तेज़ हो सकती है। चीन को यह समझौता बहुत ही नागवार लगा है और वह परमाणु सप्लाईकर्त्ता–ग्रुप (एनएसजी) में इसे विफल करने की कोशिश भी कर सकता है। समझौते के असैनिक सुविधाओं वाले हिस्से के प्रभाव मुख्यतः नकारात्मक होने की संभावना है। ऊर्जा सुरक्षा के लिए भारत को परमाणु शक्ति की कोई ज़रूरत नहीं है। यह जीवाश्मी ईंधन को जलाकर तैयार की जाने वाली बिजली से दोगुना महंगी और कई गुना ज़्यादा खतरनाक है। सभी परमाणु शक्ति प्लांटों पर चेरनोबिल जैसी घातक दुर्घटनाएं घट सकती हैं। इससे भी बदतर यह है कि इन प्लांटों से ऐसा ज़हरीला कचरा निकलता रहता है, जो हज़ारों वर्षों तक रेडियोधर्मी बना रहता है। परमाणु प्लांटों का निर्माण करना ऐसा है जैसे शौचालयों के बिना मकान बनाना। परमाणु शक्ति विकास से भारत अपनी ऊर्जा संबंधी आवश्यकताओं के लिए आयातों पर और भी ज़्यादा निर्भर हो जाएगा।

इसलिए यह समझौता एक खराब सौदा है। इसका अमेरिकी कांग्रेस और परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह द्वारा विरोध किया जाएगा,

इस बात की पूरी संभावना है। अमेरिका की ईस्टर्न एस्टेब्लिशमेंट प्रेस के बहुत से सिनेटरों और कांग्रेस सदस्यों ने इसके खिलाफ कड़ा रुख अपनाया है। यह बात बुश की आठ मार्च को 14 विधि निर्माताओं के साथ हुई बैठक से ज़ाहिर हो गई थी। बुश की स्वीकृति पर अब तक के सबसे कम स्तर (34 प्रतिशत) तक पहुंच चुकी है। ऐसे में संभव है कि इस समझौते के लिए वे कांग्रेस का अनुसमर्थन प्राप्त न कर पाएं। लेकिन लगता है कि भारतीय नीति–निर्माताओं ने इस पहलू पर ज़रा भी विचार नहीं किया है। यदि अमेरीकी कांग्रेस इस समझौते को अस्वीकार कर देती है तो करारनामे में किसी निकास खंड की भी कोई व्यवस्था नहीं की गई। बाद में तो उन्हें इसके लिए पछताना भी पड़ सकता है।

पृष्ठ 9 का शेष......

एक उग्र आंदोलन चला रहे हैं। अर्जेंटीना, चिले तथा ब्राज़ील में वामपंथी रुझान वाली सरकारें हैं। इन देशों के साथ बोलिविया की सीमा काफी दूर तक सटी हुई है। ब्राज़ील के दूसरी तरफ वेनेज़ुएला और क्यूबा की क्रांतिकारी ज़मीन है। ब्राज़ील के ठीक नीचे मौजूद छोटे से मगर बहादुर उरुग्वे के लोगों को भी हमें नहीं भूलना चाहिए जिन्होंने 200 साल में पहली बार एक समाजवादी राष्ट्रपति को चुना था। जुलाई 2006 में मैक्सिको में चुनाव होने हैं। यहां लोपेज ओब्रादोर के रूप में एक वामपंथी उम्मीदवार मैदान में है। अभी यह देखना बाकी है कि चियापास के ज़ापापिस्ता लड़ाके, यानी मैक्सिको के देशी समुदाय का ऐतिहासिक आंदोलन इन चुनावों में क्या रुख अपनाता है। ज़ापापिस्ता के मुखिया ने हाल ही में रहस्यमय तरीके से एक राष्ट्रव्यापी दौरे का ऐलान किया था। अभी तो यही लगता है कि मैक्सिको में लोपेज़ की ही हवा है। यही स्थिति निकारागुआ में सांदिनिस्तास की है। वहां नवंबर 2006 में चुनाव होने वाले हैं। इक्वेडोर में भी वामपंथी उथल–पुथल का पूर्वाभास मिलने लगा है। **जैसे–जैसे अमेरिका पश्चिमी एशिया की भूल–भूलैया में उलझता जा रहा है, समूचा लैटिन अमेरिका अपनी शर्तों पर एक नई दिशा में बढ़ता दिखाई देने लगा है।** इस श्रृंखला के अगले आलेखों में हम इस नई दिशा और इस रास्ते में आने वाली मुश्किलों का जायज़ा लेंगे।

ईवो मोरालेस निश्चिन्त भाव से कहते हैं, “फिदेल मेरे दोस्त हैं।” यह लैटिन अमेरिकी क्रांति के इस बेमिसाल बुज़ुर्ग शख्सियत से मार्गदर्शन लेने का अच्छा समय है। इस व्यक्ति ने अपने सबसे अच्छे दोस्त चे गुएवारा को बोलिविया की क्रांति के लिए शहीद होते देखा है, उसी सरज़मीन पर, जहां कभी बोलिवार राष्ट्रपति हुआ करते थे और जिनके नाम पर इस ज़मीन का नाम भी पड़ा था। मोरालेस के लिए ये एक महान विरासत है।

फ्रंटलाईन से साभार

अंगारे वाली रशीदा आपा

इस्मत चुगताई

...और ज़िन्दगी के उस दौर में मुझे एक तूफानी हस्ती से मिलने का मौका मिला, जिसके वजूद ने मुझे हिलाकर रख दिया। रौशन आँखों और मुस्कुराते शिगुफ्ता चेहरे वाली रशीदा आपा से कौन ऐसा था जो एक दफ़ा मिलकर भन्ना न जाये : पहली दफ़ा मैंने उन्हें न जाने कौन–से जलसे में देखा था। बेगम भोपाल सदारत की कुर्सी पर बैठी हुई थीं। कड़कड़ाते जाड़े में बीवियाँ मोटे–मोटे दुशाले और कोट डाले पंडाल के अन्दर सूँ–सूँ कर रही थीं : और रशीदा आपा बगैर आस्तीन का ब्लाउज पहने धुआँधार कुछ कह रही थीं। उनके स्याह भँवरे और घुँघरियाले बाल हवा में उड़ रहे थे, क्योंकि तकरीर शुरू करने से पहले उन्होंने सामने की खिड़की खोल दी थी। बीवियाँ बड़बड़ा रही थीं, उनके कटे हुए बालों पर बगैर आस्तीन के ब्लाउज पर और खुली हुई खिड़की में से आती हुई बर्फीली हवा पर, उनकी तकरीर भी कुछ कम खारदार (काँटेदार) नहीं थी : क्योंकि तकरीर के बाद उन्हें बेगम भोपाल ने खूब डाँटा : उस दिन उनकी बेहयायी और बेबाकी का तहलका मच गया था : और मैंने बे समझे–बूझे उनके हर लफ़्ज को मोती समझकर पहन लिया था।

सन् 38 में रशीदा आपा अंगारे वाली रशीदा आपा बन चुकी थीं। अब उनकी सुलगती हुई बातें पल्ले भी पड़ने लगी थीं और फिर वह मेरा हसीन डॉक्टर हीरो, शमई उँगलियाँ, नारंगी के शिगूफ़े और करमज़ी लिबादे छू हो गये। मिट्टी से बनी हुई रशीदा आपा ने संगेमरमर के सारे बुत मनहदिम (ध्वस्त) कर दिये।

ज़िन्दगी नंगी सामने आकर खड़ी हो गयी। उनसे घंटों बातें करके भी जी सैर न होता, जी चाहता उन्हें खा जाऊँ, क्या करूँ। जो रशीदा आपा से मिल चुके हैं, उन्हें अच्छी तरह से जानते हैं, अगर वह मेरी कहानियों की हीरोइन से मिलें तो दोनों जुड़वाँ बहने नज़र आयें। क्योंकि अनजाने तौर पर मैंने रशीदा आपा ही को उठाकर अफ़सानों (कहानियों) के ताक़चे में बिठा दिया! कि मेरे तसव्वुर (कल्पना) की दुनिया की हीरोइन सिर्फ़ वही हो सकती थीं, मगर जब गौर से अपनी कहानियों के बारे में सोचती हूँ तो मालूम होता है कि मैंने सिर्फ़ उनकी बेबाकी और साफगोई को गिरफ़्त में लिया, उनकी भरपूर सीमान्ती (पारे) जैसी शख्सियत मेरे काबू में न आयी। मुझे रोती, बिसूरती, हराम के बच्चे जनती मातम करती निसवानियत से हमेशा से नफरत थी। ख्वामख़ाह की वफ़ा और वो खास खूबियाँ जो पूरब की औरत का ज़ेवर समझी जाती है, मुझे लानत मालूम होती है। जज़्बातियत से मुझे सख्त कोफ्त होती है...

ये सब मैंने रशीदा से सीखा।

झूठे जग पतियाना

सुलगते मैदान, धधकते पहाड़
बोलिविया : मतपेटियों से निकलती क्रांति

एजाज़ अहमद

अड़तीस साल पहले बोलिविया की एन्डीज़ पहाड़ियों में शहीद होने से पहले चे गुएवारा ने कहा था, “उत्तरी अमेरिका में अरबपति होने की बजाय मैं एक अनपढ़ इंडियो की ज़िंदगी को ज़्यादा अहमियत दूंगा।” दिसंबर के तीसरे हफ्ते में भारी बहुमत से बोलिवियाई राष्ट्रपति के पद पर पहुंचने वाले इवो मोरालेस पूरी तरह अनपढ़ नहीं हैं। हालांकि अमेरिकी कॉरपोरेट मीडिया इस बात पर बार–बार ज़ोर देता है कि उन्हें हाई स्कूल से निकाल दिया गया था और वह “नशीली दवाओं पर आधारित ट्रेड यूनियन” आंदोलन चलाते रहे हैं लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि वह “इंडियो” हैं। बल्कि वह पहले ऐसे शख्स हैं जो पूरी तरह देशी मूल के हैं और लैटिन अमेरिका के किसी भी देश में आम चुनावों के ज़रिए राष्ट्रपति बने हैं। अपनी भारी जीत के फौरन बाद उन्होंने उत्साहपूर्वक ऐलान किया था कि “मैं न केवल चावेज़ का अनुयायी हूं बल्कि कास्त्रो और चे का भी अनुयायी हूं।” लेकिन अगले ही वाक्य में उन्होंने अहतियात के साथ कहा : “इसका मतलब यह नहीं है कि मैं उन लोगों के कार्यक्रम यहां लागू करने वाला हूं। बोलिविया कोई क्यूबा नहीं है।”

बोलिविया में न तो राजनीतिक उथल–पुथल की कोई कमी रही है न ही क्रांतिकारी संभावनाओं का यह पहला उदाहरण है। औपनिवेशिक शासन से आज़ाद होने के बाद 1825 में सिमोन बोलिवार ने बोलिविया की एक अलग देश के रूप में स्थापना की थी। वेनेज़ुएलाई मूल के सिमोन बोलिवार लैटिन अमेरिका के महान क्रांतिकारी नायकों में रहे हैं। उनका नाम देश के नाम में भी जुड़ा हुआ है। बोलिविया के दो सदी से भी कम के इतिहास में 200 से ज़्यादा तख्तापलट की घटनाएं हुई हैं और पचास के दशक में यहां के मेहनतकश क्रांतिकारी सत्ता परिवर्तन की दहलीज़ पर पहुंच गए थे। हालांकि मज़दूर क्रांति का यह सपना साकार नहीं हो पाया लेकिन इस घटना ने वाम–लोकप्रिय सुधारों का रास्ता ज़रूर साफ कर दिया था। उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादी बोलिवारियाई (बोलिवारिएन) उद्वेग, अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ महाद्वीपीय प्रतिरोध, और पचास व साठ के दशक की क्रांतिकारी लोकलुभावनवाद की यह विरासत आज की बोलिवियाई राजनीतिक कल्पना में सहज दिखाई देने वाली बात है। यह बात मोरालेस को एक हद तक ह्यूगो चावेज़ के बगल में लाकर खड़ा कर देती है। चावेज़ भी अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम को “बोलिवारियाई क्रांति” ही कहते हैं। यहां तक कि उन्होंने अपने देश को “बोलिवारियाई गणतंत्र” का नया नाम भी दे दिया है और अब वह “इक्कीसवीं सदी के समाजवाद” के लिए काम करने की बात कर रहे हैं। चावेज़ ने जब पहली बार “समाजवाद” शब्द कहा होगा उससे भी दसियों साल पहले मोरालेस ने बोलिविया में एक पार्टी की स्थापना कर दी थी और उसे “समाजवाद की ओर आंदोलन” का नाम दिया था। यह कहते हुए मोरालेस उस बोलिविरियाई सपने के सचेत वाहक बन जाते हैं कि “मैं चावेज़ का इसलिए सम्मान करता हूं क्योंकि चावेज़ एक विशाल लैटिन अमेरिकी राष्ट्र की बात करते हैं।” ईवो मोरालेस एक साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवादी, स्वयंभू समाजवादी और सही मायनों में देशी इंडियन मूल के व्यक्ति हैं। मोरालेस कई मायनों में एक अनूठी परिघटना का प्रतीक है। उनका जन्म कोका किसानों के परिवार में हुआ था। उनका पालन–पोषण हरे–भरे लेकिन निर्धन आल्टीप्लानो क्षेत्र में हुआ जहां उन्होंने खुद भी कोका किसान और ल्यामा गड़रिये के रूप में काम किया था। यहीं से वह कोका किसानों की यूनियन के राष्ट्रीय नेता की गद्दी तक पहुंचे। 1995 में उन्होंने एमएएस (मोविमियंतो आल सोसियालिस्मो) की स्थापना की थी। यह एक ऐसी राजनीतिक पार्टी थी जिसमें बोलिविया, बल्कि लैटिन अमेरिका की तीन अलग–अलग राजनीतिक धाराओं का समावेश है। इसमें लैटिन अमेरिका में आमतौर पर जिसे “ग्रिंगो साम्राज्यवाद” कहा जाता है वह ऐतिहासिक घृणा; एक समाजवादी प्रेरणा जो पूरे महाद्वीप में जब–तब मज़बूती से सर उठाती रहती है; और देशी समाज की वह विस्फोटक क्रांतिकारी राजनीति जो बोलिविया ही नहीं बल्कि पेरू, इक्वेडोर, ग्वाटेमाला और यहां तक कि मैक्सिको के कई हिस्सों तक पहुंच चुकी है – इन तीनों का समावेश है। मोरालेस ने एमएएस के उम्मीदवार के रूप में 2002 में पहली बार राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ा। उस वक्त बोलिविया में अमेरिकी राजदूत मेनुअल रोचा ने सार्वजनिक रूप से इस बात का ऐलान कर दिया था कि अगर मोरालेस विजयी हुए तो अमेरिका से बोलिविया को मिलने वाली सहायता बंद कर दी जाएगी। इस बयान से मोरालेस की लोकप्रियता रातों–रात आसमान छूने लगी। लेकिन इसके बावजूद वह अमेरिका समर्थित गोंज़ालो सांचेज़ दे लोज़ादा से चुनाव हार गए। हार–जीत का फासला महज दो फीसदी मतों से हुआ। अमेरिका की वर्तमान विदेश मंत्री कोंडोलिसा राइस ने हालिया चुनाव की पूर्व संध्या पर भी यूरोप से अपनी बेचैनी का इज़हार कर दिया था। कुछ समय पहले, 21 अक्तूबर को अमेरिका के हेमिस्फियरिक अफेयर्स विभाग के उप–सहायक विदेश सचिव चार्ल्स साकिरो ने *मियामी हैराल्ड* के आंद्रेज़ कोपेनहाइमर को ई–मेल के ज़रिए लिखा था : “वाशिंगटन के लिए यह कोई अच्छी खबर नहीं होगी कि क्यूबा–वेनेज़ुएला की दिनों–दिन बेकाबू होती जा रही जोड़ी में

एक और नाम जुड़ जाए और हमें इस त्रिमूर्ति से टक्कर लेनी पड़े।"

अब त्रिमूर्ति पूरी तरह अस्तित्व में आ चुकी है। मोरालेस जब–तब एहतियाती अंदाज़ में बात ज़रूर करते हैं लेकिन अपना असली संदेश तो वह हज़ारों बार दोहरा चुके हैं। चुनावों से ठीक पहले उन्होंने एक स्वीडिश पत्रकार को इंटरव्यू दिया था। इस इंटरव्यू में उन्होंने अपनी राजनीतिक प्रस्थापनाओं को बहुत साफ–साफ पेश किया था। उन्होंने कहा था, "हम जंगलात, पैट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस भंडारों का राष्ट्रीयकरण करेंगे। कई बार कंपनियों का प्रबंधन विनाशकारी रहा है। देश का विकास करने के लिए हमें औपनिवेशिक और नव औपनिवेशिक मॉडल से छुटकारा पाना होगा। हम बहुराष्ट्रीय कंपनियों से भी निष्पक्ष ढ़ंग से कर वसूल करेंगे। इससे जो आमदनी होगी उसे ऐसे छोटे और मझौले उद्यमों के लिए उपलब्ध कराया जाएगा जहां रोज़गार के अच्छे मौके और नए विचार पैदा हो रहे हैं। इन सारे इरादों को पूरा करने के लिए हम एक विकास बैंक खोलना चाहते हैं। बड़े भूस्वामियों की संपत्ति का पुनर्वितरण किया जाएगा। उपजाऊ ज़मीन में हमारी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं है लेकिन जो ज़मीन अनुपजाऊ है उसे लाज़िमी तौर पर भूमिहीन काश्तकारों को सौंप दिया जाना चाहिए। यहां से आर्थिक पुनर्वितरण और बराबरी की एक नई प्रक्रिया शुरू होगी...। हम विश्व बैंक और आईएमएफ से बात करके कोशिश करेंगे कि बोलिविया पर बकाया सारे कर्ज़ रद्द कर दिए जाएं। हम इस आशय की मांग भी पेश करना चाहते हैं कि बोलिविया में किए गए जनसंहारों, 500 साल तक चले दमन व उत्पीड़न और मानवाधिकारों की अवहेलना के लिए बोलिविया को मुआवज़ा दिया जाए। यह एक ऐतिहासिक कदम होगा, खासतौर से किसी देशी सरकार के लिए।"

पिछले पैराग्राफ में "उपजाऊ" और "अनुपजाऊ" ज़मीन के बीच फर्क का अनुवाद सटीक नहीं रहा है। मोरालेस के कहने का मतलब यह है कि कोई भूस्वामी जितनी ज़मीन संभाल सकता है यानी जिस पर वह खुद खेती कर सकता है उसे उसके पास ही रहने दिया जाएगा लेकिन जिस ज़मीन पर वह खेती तक नहीं कर पा रहे हैं उसे पुनर्वितरण के लिए सरकार के हवाले कर देना होगा। 22 जनवरी को सत्ता संभालने वाली मोरालेस सरकार के सामने इस महत्वाकांक्षी योजना को लागू करने में किन मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा इस पर हम बाद में एक बार फिर लौटेंगे लेकिन यहां इस बात का उल्लेख तो किया ही जा सकता है कि इस परियोजना में जिस दुस्साहसिक भावना का परिचय दिया गया है वह निश्चय ही क्रांतिकारी उद्वेगों से लैस है। यह योजना वेनेज़ुएला में चावेज़ द्वारा पहले ही शुरू की जा चुकी योजना से काफी मिलती–जुलती है और चावेज़ की तरह मोरालेस के पास भी एक समावेशी दृष्टि है जो समूचे लैटिन अमेरिका को अपने दायरे में समेटे हुए है। मोरालेस बोलिवार की उस प्रसिद्ध उद्घोषणा को अकसर दोहराते हैं कि "हमारे देश का नाम अमेरिका है"। पीछे उल्लिखित इंटरव्यू में मोरालेस ने यह भी कहा था कि "लैटिन अमेरिका में आज बहुत सारे प्रगतिशील नेता हैं। हमारे पास फिदेल और चावेज़ जैसे राष्ट्रपति हैं तो साथ ही केर्चनर (अर्जेंटीना), लूला और ताबारेस वास्केस (उरुग्वे) जैसे नेता भी हैं...। मेरे पास भी यूरोपीय संघ की तर्ज़ पर लैटिन अमेरिका के एकीकरण का एक खाका है। मैं चाहता हूं कि हमारे पूरे महाद्वीप का एक ही बाजार हो, एक ही मुद्रा हो और सारी कंपनियां राज्य के मातहत हों...। अगर मैं राष्ट्रपति बना तो बोलिविया भी अल्बा (बोलिवारियन अमेरिकी विकल्प) का समर्थन करेगा जो एफटीएए (फ्री ट्रेड एरियाज ऑफ अमेरिका) की जगह लेगा।" मोरालेस वस्तुतः अर्जेंटीना में मारडेल प्लाटा में नवंबर के दौरान हुए उन विशाल प्रदर्शनों में चावेज़ की ही तरफ थे जिनमें बुश का विरोध किया गया था। उस दौरान अमेरिकाज़ के शिखर सम्मेलन में बुश ने एफटीएए के लिए अमेरिकी परियोजना को आगे बढ़ाने की भरपूर कोशिश की थी लेकिन वह नाकामयाब साबित हुए थे। मोरालेस ने बुश के उस प्रस्ताव को "अमेरिकी देशों के उपनिवेशीकरण पर कानून की मोहर लगाने वाले समझौते" की संज्ञा दी थी।

यह कोई नई पोज़ीशन नहीं है। 2003 में भी अपने एक इंटरव्यू में मोरालेस ने देशी जनता के अधिकारों को राष्ट्रीय संसाधनों पर नियंत्रण तथा अमेरिका की व्यावसायिक मुहिम के खिलाफ संघर्ष से जोड़कर पेश किया था। उस समय उन्होंने कहा था, "500 साल से ज़्यादा वक़्फे के बाद अभी भी हम, केचुआज़ और आईमारास, ही इस ज़मीन के असली मालिक हैं। 500 साल के प्रतिरोध के बाद हम देशी लोग दोबारा सत्ता संभाल रहे हैं। दोबारा सत्ता हाथ में लेने का मकसद हमारे अपने संसाधनों को वापस हासिल करना, और हाइड्रोकार्बन आदि अपने ही प्राकृतिक संसाधनों पर अपना मालिकाना हक कायम करने से है। इससे बहुराष्ट्रीय निगमों और नवउदारवादी हितों को चोट पहुंचती है। पर मुझे यकीन है कि लोगों की सत्ता बढ़ रही है और दिनों–दिन पुख्ता होती जा रही है। यही सत्ता राष्ट्रपतियों को, आर्थिक मॉडलों को और सियासत के रंग–रूप को बदलती है और बदल रही है। हम इस बारे में मुतमईन हैं कि पूंजीवाद पूरी पृथ्वी का शत्रु है, यह इंसानियत और संस्कृतियों का शत्रु है। अमेरिकी सरकार हमारी जीवनशैली और हमारे दर्शन को नहीं समझती। लेकिन हम बोलिवियाई जनता की मदद से अपने सपनों, अपनी जीवनशैली और अपनी मांगों की हिफाज़त करेंगे।"

बोलिविया के चापारे इलाके में हरे–भरे मगर निर्धन माहौल में मूल रूप से एक गड़रिये और गरीब किसान के रूप में अपनी ज़िंदगी की शुरुआत करने वाले ईवो मोरालेस पहली बार तकरीबन सौ फीसदी देशी किसानों को लेकर बनाए गए किसान संगठन के एक मुख्य नेता के रूप में सुर्खियों में आए थे। वह देश के कोका उत्पादन में 90 प्रतिशत योगदान देने वाले इलाके से थे। वह एक ऐसे देश में देशी किसानों के संगठन की अगुवाई कर रहे थे जहां देशी मूल के लोगों को वोट देने का अधिकार तक नहीं था और पचास के दशक की शुरुआत

तक बहुत सारे सार्वजनिक स्थानों में उनका प्रवेश वर्जित था। यह स्थिति तब थी जबकि बोलिविया की आबादी में केचुआज़ और आईमारा, इन दोनों समुदायों का हिस्सा 65 प्रतिशत और मैस्तिसो (मिश्रित नस्ल) की आबादी लगभग 25–30 प्रतिशत है। कहने का मतलब यह है कि सत्ता केंद्र और राज्य तंत्र पर विशुद्ध यूरोपीय मूल के, मुख्य रूप से स्पेनिश मूल के महज़ 10 प्रतिशत श्वेतों का कब्ज़ा था। इसीलिए, अपनी फतह की खबर मिलने के बाद अपने पहले भाषण में आईमारा मूल के मोरालेस ने कहा था कि "मैं आईमाराज़, केचुआज़, चिकितानोस और ग्वारानिस मूल के लोगों को बताना चाहता हूं कि हम लोग पहली बार राष्ट्रपति के पद पर पहुंचने जा रहे हैं।" लेकिन साथ ही उन्होंने यह भी कहा, "मैं तमाम कारोबारियों, पेशेवरों, बुद्धिजीवियों और कलाकारों से कहना चाहता हूं कि वह हमें छोड़कर न जाएं। अब हम हार–जीत की नहीं बल्कि देश चलाने की बात कर रहे हैं और हम सभी की इच्छाएं और मांगें पूरी करने को समर्पित हैं।" विजय वक्तव्य में भी उनकी थीम यही थी : "देशी आंदोलन किसी को बेदखल नहीं करता; यह सर्वसमावेशी आंदोलन है। हमारी सरकार देश में मौजूद घृणा और अपमान को खत्म कर देगी। अब नवउदारवादी राज्य, औपनिवेशिक राज्य खत्म हो जाएगा।" अपना भाषण खत्म करते हुए उन्होंने स्पेनिश में नहीं बल्कि केचुआ भाषा में बोलना शुरू किया जो उनकी अपनी भाषा नहीं है लेकिन देश के सबसे बड़ी देशी समुदाय की भाषा ज़रूर है। उन्होंने कहा "कोसाचुन कोका, बानू चुन यांकीस" – कोका ज़िंदाबाद; यांकी (अमेरिकी) मुर्दाबाद। कोका की पत्ती एन्डीज़ संस्कृति और उत्पादन का एक महान प्रतीक है परंतु यही इन देशों और अमेरिका के बीच विवाद की भी जड़ रही है।

देश की जनता के अधिकारों और पानी, गैस व तेल आदि प्राकृतिक संसाधनों पर सरकारी नियंत्रण जैसे विस्फोटक मुद्दों के अलावा ईवो मोरालेस के चुनावी कार्यक्रम में राजनीतिक विकेंद्रीकरण, क्षेत्रीय स्वायत्तता, एकजुटता और परस्पर समानता का भी आश्वासन दिया गया था। उनके चुनावी आश्वासनों में सांस्कृतिक एवं क्षेत्रीय विविधता पर आधारित राष्ट्रीय एकता के सुदृढ़ीकरण की भी बात कही गई थी। इसी तरह उनके कार्यक्रम में भ्रष्टाचार से निपटने, निजी कंपनियों के कामकाज की जांच करने, खासतौर से भूतपूर्व राष्ट्रपतियों तथा अन्य पुराने शीर्ष अधिकारियों की संपत्ति की जांच करने का भी ऐलान किया गया था। उनके कृषि सुधार कार्यक्रम में विशाल जागीरों को खत्म करने और भूमि बाज़ार में चल रही सट्टेबाज़ी को खत्म करने के साथ–साथ सभी किसानों को ज़मीन देने और देशी नागरिकों, किसानों व छोटे संपत्ति स्वामियों को अपनी संपत्ति पर मालिकाना देने की बात कही गई है। उनके कार्यक्रम में किसानों को वैधानिक सुरक्षा और कृषि उत्पादकों को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराने की भी बात कही गई थी ताकि कर्ज़ न चुकाने के कारण बैंकों द्वारा ज़ब्त कर ली गई संपत्ति उन्हें वापस दिलाई जा सके।

मोरालेस के नाम भेजे अपने बधाई संदेश में चावेज़ ने देशी अधिकारों, लैटिन अमेरिकी एकजुटता और नवउदारवाद के खिलाफ संघर्ष पर केंद्रित इन्हीं आश्वासनों पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया था। चावेज़ ने कहा कि किसी आईमारा इंडियन मूल के व्यक्ति को राष्ट्रपति पद पर पहुंचाने में बोलिवियाई लोगों को 500 साल का वक्त लगा है। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि मोरालेस की जीत "सच्चे और सही मायनों में एक ऐतिहासिक प्रतिशोध है"। इसके बाद उन्होंने लिखा, "प्रिय ईवो, इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी खुशी की कोई सीमा नहीं है : बोलिवार और सुकरे (लैटिन अमेरिका के मुक्तिदायी नेता, क्रमशः वेनेज़ुएला और बोलिवियाई मूल के) की पितृभूमि अब अपनी प्रतिष्ठा और संप्रभुता के लिए एक नए और निर्णायक युद्ध के चरण में पहुंच गई है; महाद्वीप की पूरी जनता आपकी पितृभूमि में इंसानियत की पुनर्स्थापना और इतिहास के अंत के नाम पर प्रचारित नवउदारवादी पाखंड के निषेध का एक नया अवसर देख रही है। यह बोलिविया की पुनर्स्थापना का समय है : यह इतिहास में एक नई शुरुआत है।"

इसी तरह के संदेश कई और देशों से भी आए। ग्वाटेमाला की नोबल पुरस्कार विजेता और देशी मूल की सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली लेखिका रिगोबेर्तो मेन्चू ने कहा कि मोरालेस देशी मूल के लोगों के लिए "ताज़ा हवा का झोंका" बनकर आए हैं। रिगोबेर्तो ने कहा कि मोरालेस "अपने देशी भाई–बहनों पर सदा भरोसा कर सकते हैं। अगर हम किसी भी तरह उनको समर्थन और सहायता दे सकते हैं तो हम ज़रूर देंगे।" साथ ही उन्होंने आगाह भी किया कि नए राष्ट्रपति को "एक बहुत जटिल और उलझे हुए हालात का मुकाबला करना है क्योंकि वह एक ऐसे देश की बागडोर संभाल रहे हैं जहां नस्लवाद और भेदभाव की जड़ें बहुत गहरी हैं" और जहां "गंभीर आर्थिक समस्याएं, गरीबी और सामाजिक व राजनीतिक विखंडन" बहुत व्यापक है। इक्वेडोर के शक्तिशाली संगठन कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन नेशनेलिटीज़ ऑफ इक्वेडोर (कोनाई) के अध्यक्ष लुईस माकास ने कहा कि मोरालेस की जीत "स्पेनिश उपनिवेशवाद के ज़माने से अब तक" की सबसे बड़ी ऐतिहासिक घटना है। बोलिविया की तरह इक्वेडोर में भी पिछले दो साल में दो राष्ट्रपतियों का तख्तापलट हो चुका है। इन दोनों राष्ट्रपतियों को इसी तरह के जनउभार और ऐसी ही मांगों की वजह से अपदस्थ होना पड़ा था।

किसी भी लिहाज़ से इवो मोरालेस की जीत शानदार है। प्रत्यक्ष रूप से उनकी हैसियत चुनौतियों की आशंका से मुक्त दिखाई देती है। सच तो यह है कि 2002 में वह जितने मामूली अंतर से हारे थे उसी से तय हो गया था कि अगली बार उन्हें जीतने से कोई नहीं रोक पाएगा। पिछला आम चुनाव सन् 2000 में कोचाकांबा शहर में हुए व्यापक आंदोलन के साये में लड़ा गया था। इस आंदोलन ने आईएमएफ के दबाव में की जा रही सार्वजनिक जल व्यवस्था के निजीकरण की कोशिशों को नाकाम कर दिया था। तभी से बोलिविया विभिन्न प्रकार के नवउदारवादी कार्यक्रमों, जैसे कर वृद्धि, तेल निर्यात सौदे, किसानों के अधिकारों में काट–छांट, गैस उत्पादन में विदेशी व्यावसायिक उत्पादन

आदि के खिलाफ बार–बार जनअसंतोष के भंवर में डूबता–उतरता रहा है। दो राष्ट्रपतियों को जनअसंतोष के कारण सत्ता छोड़नी पड़ी जबकि उनमें से एक ने तो मार्शल लॉ थोपने की कोशिश भी की थी। इस बगावती माहौल में मोरालेस की चुनावी जीत निश्चय ही एक बड़ी बात है। बोलिवियाई चुनावों में विजयी उम्मीदवार को कम से कम 50 प्रतिशत वोट प्राप्त करना होता है। अगर ऐसा नहीं होता है तो राष्ट्रीय कांग्रेस अल्पकेंद्रित सत्ता व्यवस्था पर आधारित पार्टियों के बीच सौदेबाज़ी के ज़रिए अपनी ओर से राष्ट्रपति का चुनाव कर लेती है। मोरालेस से पहले 180 साल के इतिहास में राष्ट्रपति पद के लिए खड़े हुए किसी भी उम्मीदवार को इतने वोट नहीं मिले थे। मोरालेस पहले व्यक्ति हैं जिन्हें 54 प्रतिशत वोट मिले हैं। इस तरह उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस में बैठी पार्टियों को राष्ट्रपति के पद पर मनचाही कठपुतली बिठाने के मंसूबों पर पानी फेर दिया। अमेरिका समर्थित उम्मीदवार जॉर्ज किरोगा को मोरालेस के मुकाबले तकरीबन आधे वोट मिले। ऐसा लगता है कि मोरालेस की पार्टी को संसद के निचले सदन में भी बहुमत मिल गया है। इस जनप्रतिनिधि सभा में बहुमत एक महत्वपूर्ण बात है लेकिन ऊपरी सदन, यानी सीनेट में वह अभी भी अल्पमत में दिखाई देते हैं। मोरालेस के पास वह ताक़त अभी भी नहीं है जो चावेज़ की सबसे बड़ी खूबी है – मोरालेस के पास सेना का समर्थन नहीं है। खासतौर से तख्तापलट की कोशिशों के नाकाम होने और निष्ठाहीन अधिकारियों को सेना से निकाल दिए जाने के बाद तो उनकी स्थिति खासतौर से कमज़ोर पड़ गई है। लेकिन मोरालेस के पास एक ऐसी चीज़ है जिसे चावेज़ सालों में हासिल कर पाए थे। बोलिवियाई राष्ट्रपति के पास दशक भर पुरानी अपनी राजनीतिक पार्टी है और उन्हें ट्रेड यूनियनों तथा बहुत सारे विद्रोही गुटों के बीच भारी समर्थन हासिल है।

पर उनके सामने जो समस्याएं हैं वह भी मामूली नहीं हैं। उन्होंने अपनी पार्टी को "समाजवाद की ओर आंदोलन" का नाम दिया है और उनकी जीत का उन्माद पूरे देश को अपनी चपेट में लेता जा रहा है। लेकिन मोरालेस और उनके सहायक नवनिर्वाचित उपराष्ट्रपति अलवारो गार्सिया लिनेरा – जो एक जमाने में गुरिल्ला लड़ाका रहे हैं और अब एक लोकप्रिय जननायक हैं – को ही वामपंथी खेमे के बेइंतहा उत्साह और दक्षिणपंथी खेमे की बेबुनियाद आशंकाओं को नियंत्रित करने की कोशिश करनी होगी। हाल के एक इंटरव्यू में लिनेरा ने खिन्न भाव से कहा था, "हमें यह मान लेना चाहिए कि पूंजीवाद तक पहुंचने में बोलिविया को अभी 50 से 100 साल तक और लग जाएंगे।" मोरालेस ने भी चुनावों से पहले एक पत्रकार से कहा था, "अगर मैं राष्ट्रपति बनता हूं तो दुर्भाग्यवश यह मेरा दायित्व होगा कि मैं इन नवउदारवादी कानूनों का सम्मान करूं। हम कुछ बदलाव अध्यादेश के ज़रिए और कुछ बदलाव विधायिका के ज़रिए कर लेंगे लेकिन तत्काल बहुत भारी बदलाव नहीं ला पाएंगे क्योंकि 20 साल से चले आ रहे नवउदारवादी कानूनों को एक झटके में साफ नहीं किया जा सकता।" बोलिविया आईएमएफ के दबाव में चलाए जा रहे निजीकरण कार्यक्रमों का एक आदर्श नमूना और शोकेस रहा है। पिछले 20 साल में यहां की राष्ट्रीय संपत्तियों को मिट्टी के मोल नीलाम किया गया है और पूरा राज्य तंत्र राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के ज़रिए इन समझौतों से बंधा हुआ है। यहां तक कि गैस और तेल संपदा जैसे केंद्रीय प्रश्नों पर भी एनएएस ने "ज़ब्ती के बिना राष्ट्रीयकरण" की अपील जारी की थी। इस अपील का आशय यह था कि पिछले समझौतों पर नए सिरे से वार्ता शुरू की जाए और उनमें ऐसी शर्तें शामिल करने की कोशिश की जाए जो बोलिविया के लिए फायदेमंद हों। इसके विपरीत धुर वामपंथी उम्मीदवारों ने "मुआवज़े के बिना राष्ट्रीयकरण" की राह पर चलने का आह्वान किया था।

हाइड्रोकार्बन्स जैसे बुनियादी महत्व के मुद्दे पर भी बोलिविया में हमें क्यूबा की तर्ज़ पर बेदखली या ज़ब्ती की संभावना दिखाई नहीं देती। बल्कि यहां भी राज्य की सर्वोच्चता के लिए एक लंबे संघर्ष की संभावना ज़्यादा मज़बूत दिखाई देती है। चावेज़ वेनेज़ुएला के तेल उद्योग पर सरकारी नियंत्रण को मज़बूत करने के लिए इसी तरह का संघर्ष लंबे समय से चला रहे हैं। लापाज़ स्थित सान आंद्रेस विश्वविद्यालय में शोधकर्ता कार्लोस विलेगास राष्ट्रपति मोरालेस के आर्थिक सलाहकार हैं। उन्होंने इस समस्या को बड़े सटीक तरीके से पेश किया है : "हम खेल के नियम बदलना चाहते हैं। बोलिविया का स्वामित्व हाइड्रोकार्बन्स पर तभी तक है जब तक वह ज़मीन के भीतर रहते हैं। जैसे ही उन्हें ज़मीन से बाहर निकाला जाता है वह बहुराष्ट्रीय कंपनियों की संपत्ति बन जाते हैं और ये कंपनियां जैसे चाहे उन्हें बेच सकती हैं।" उनकी राय यह है कि मौजूदा समझौते गैरकानूनी हैं और उन पर लाज़िमी तौर से दोबारा वार्ता शुरू की जानी चाहिए। अगर कंपनियां दोबारा वार्ता नहीं करना चाहतीं तो बोलिविया अन्य स्रोतों की तरफ मुड़ सकता है।" इसीलिए, चीन और वेनेज़ुएला सहित कई अन्य देशों के साथ शुरुआती बातचीत हो चुकी है। इनके अलावा ब्राज़ील भी खुद–ब–खुद इस सौदेबाज़ी में खिंचा चला आएगा क्योंकि पैट्रोब्रास नामक ब्राज़ीली कंपनी की बोलिविया के हाइड्रोकार्बन उद्योग में काफी बड़ी भूमिका रही है। इस साल एमएएस ने कांग्रेस के ज़रिए एक नए कानून को मंज़ूरी दिलवाई थी। इस कानून में हाइड्रोकार्बन भंडारों पर राष्ट्रीय संप्रभुता को बहाल करने और तेल उद्योग से वसूल किए जाने वाले करों को 50 प्रतिशत तक बढ़ाने का प्रावधान किया गया था। अभी तक सरकार इस कानून को लागू नहीं कर पाई है। नवनिर्वाचित मोरालेस सरकार न केवल इस कानून को लागू करना चाहती है बल्कि चावेज़ की तर्ज़ पर उसके दायरे को भी और फैलाना चाहती है।

चावेज़ की तरह मोरालेस भी एक बिल्कुल नया संविधान लिखना और एक बिल्कुल भिन्न किस्म का राज्य स्थापित करना चाहते हैं। चावेज़ ने उन्हें भेजे संदेश में लिखा था "बोलिविया की पुनर्स्थापना...।" चुनावों से पहले मोरालेस ने भी कहा था, "संविधान सभा हमारी सबसे पहली प्राथमिकता है और यही हमारे अभियान का मुख्य प्रस्ताव है। हमारे देश के ज़्यादातर लोगों–30

से भी ज़्यादा देशी समुदायों के लोग–ने 1825 में बोलिविया की स्थापना में कोई हिस्सेदारी नहीं की थी। औपनिवेशिक राज्य को खत्म करने के लिए, विविधता में एकता बनाए रखने के लिए, अपने तमाम संसाधनों को राज्य नियंत्रण में रखने के लिए और निर्णय प्रक्रिया में जनता की हिस्सेदारी और अधिकार सुनिश्चित करने के लिए हमें बोलिविया की पुनर्स्थापना करनी है...। अगर मैं राष्ट्रपति बनता हूं तो मुझे कानूनों का सम्मान करने की शपथ लेनी होगी – और अगर ये कानून नवउदारवादी कानून हैं तो मैं ऐसा नहीं कर सकता।”

आखिर वाला वाक्य एक तरह की नारेबाज़ी का हिस्सा दिखाई देता है। जिन कानूनों की वह बात कर रहे हैं वह पहले ही मौजूद हैं और मतपेटी के ज़रिए सरकार बनाने की कवायद करते हुए उन्होंने कम से कम प्रारंभिक तौर पर तो इन कानूनों का सम्मान करने की शपथ ले ही ली है। वैसे भी सारा मामला राष्ट्रीय कानूनों का नहीं है जिन्हें सरकार विधायिका या संविधान संशोधनों के ज़रिए बदल सकती है। बोलिविया में मौजूद बहुराष्ट्रीय कंपनियां अंतर्राष्ट्रीय कानूनों और द्विपक्षीय निवेश समझौतों के अंतर्गत आती हैं जिनके बारे में बोलिविया सरकार विदेशी सरकारों और आईएमएफ एवं विश्व बैंक आदि को अपनी ओर से आश्वासन दे चुकी है। पिछली बोलिवियाई सरकार ने कुल 18 द्विपक्षीय निवेश समझौतों पर हस्ताक्षर किए थे। जेडनेट पर प्रकाशित एक लेख में सुजान स्पोर्क ने स्वेज़ के नियंत्रण वाले निजी कंसोर्टियम आगवास डेल इलीमानी द्वारा दायर किए गए मुकदमे का बारीकी से विश्लेषण किया है। इस कंसोर्टियम ने बोलिविया सरकार के खिलाफ मुकदमा दायर करके आरोप लगाया है कि सरकार ने 1997 में स्वेज़ के नाम जारी किए गए अनुबंध को एक जनांदोलन के दबाव की वजह से लागू नहीं किया। इस समझौते के तहत स्वेज़ को राजधानी लापाज़ और निकटवर्ती शहर अल आलतो में सार्वजनिक जलापूर्ति सेवाएं चलाने का अधिकार दिया गया था। अपने विश्लेषण में स्पोर्क ने दो मुख्य दलीलें पेश की हैं। पहला, स्वेज़ को विश्व बैंक की ओर से सुरक्षा मिली हुई है क्योंकि बैंक की निजी क्षेत्र ऋण शाखा – इंटरनेशनल फाइनेंस कॉरपोरेशन – ने भी इस कंसोर्टियम के 8 प्रतिशत शेयर खरीदे हुए हैं। ऐसे में यह मुकदमा संभवतः अंतर्राष्ट्रीय निवेश विवाद निपटारा केंद्र (आईसीएसआईडी) के तहत चलाया जाएगा। यह विश्व बैंक द्वारा स्थापित किया गया एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय है। स्पोर्क की दूसरी दलील यह है कि बड़ी मुनाफाखोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पास साम्राज्यवादी समर्थन के अलावा बोलिविया जैसे तीसरी दुनिया के भारी घाटे में चल रहे गरीब देशों के मुकाबले कई गुना ज़्यादा आर्थिक संसाधन और कानूनी सलाहकार होते हैं जिनका आसानी से मुकाबला नहीं किया जा सकता। अकेले स्वेज़ ही अर्जेंटीना के खिलाफ ऐसे तीन मुकदमे जीत चुकी है और पिछले साल अक्तूबर आईसीएसआईडी ने ऐसे 143 मामलों की सूची जारी की थी। अगर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ किए गए समझौतों को एकतरफा तौर पर रद्द करने की या राष्ट्रीयकरण की कोशिश की जाती है तो साम्राज्यवादी राज्य बोलिविया के खिलाफ एकजुट हो जाएंगे और वैश्विक बहुपक्षीय वित्तीय संस्थान उसका जीना दूभर कर देंगे।

इतना ही नहीं, मोरालेस सरकार को भीतरी और बाहरी स्रोतों से चौतरफा उथल–पुथल और विद्रोही गतिविधियों का भी सामना करना पड़ेगा। यह उथल–पुथल और अस्थिरता पांच रूपों में सामने आ सकती है : आर्थिक अराजकता पैदा करने के लिए अल्पतंत्रीय सत्ता का प्रयोग; अमेरिका द्वारा प्रशिक्षित बोलिवियाई सेना को सरकार के खिलाफ खड़ा कर देना जो स्वाभाविक रूप से मोरालेस के प्रति निष्ठाहीन है; क्षेत्रीय अलगाववादी भावनाओं, खासतौर से सांता क्रूज में जनभावनाओं को उकसाना; धुर वामपंथी विपक्ष की आड़ में विद्रोही गुटों को मोरालेस के खिलाफ खड़ा कर देना; और पड़ोसी देश पैरागुए की ओर से दखलंदाजी जहां अमेरिका मोरालेस की जीत को ध्यान में रखते हुए काफी समय से हथियार और सैनिकों की तैनाती कर रहा है।

बोलिविया की अल्पतंत्र आधारित सत्ता व्यवस्था के मोटे तौर पर तीन पहलू हैं। एक घेरा परंपरागत संपदा से लैस तबके का है जिसने चांदी और टिन की खानों का दोहन करके सदियों में बेहिसाब संपदा इकट्ठा कर ली है। एंडीज़ की ऊंची पहाड़ियों में स्थित पोतोसी शहर सोलहवीं सदी में लंदन से भी बड़ा था और दुनिया की तकरीबन दो तिहाई चांदी यहीं से निकलती थी। बाद के समय में टिन के उत्पादन ने भी विदेशी हित साधने वाले छोटे से गुट को काफी संपन्नता दी। आज तेल, गैस और नशीली दवाओं का निर्यात भी इन्हीं सदियों पुराने धनाढ्यों को लाभ पहुंचा रहा है। अर्धसामंती लातिफूंदिया के पास मौजूद बेहिसाब ज़मीन भी इस छोटे से संपन्न तबके को मज़बूत आधार देती है। इस स्थिति की हकीकत सिर्फ कुछ आंकड़ों के आधार पर साफ हो जाती है : संयुक्त राष्ट्र के मुताबिक अक्तूबर 2005 में बोलिविया की 2.5 करोड़ हैक्टेयर ज़मीन पर मात्र 100 परिवारों का नियंत्रण था जबकि 20 लाख कैंपेसिनो परिवारों के पास कुल 50 लाख हैक्टेयर ज़मीन है। कहने का मतलब यह है कि 100 सबसे बड़े भूस्वामियों के पास 20 लाख छोटे किसानों की कुल ज़मीन से भी पांच गुना ज़्यादा ज़मीन है। सत्तर के दशक में बांज़ेर की तानाशाही के दौरान कुख्यात ऐल्सनर परिवार को 2,00,000 हैक्टेयर ज़मीन तोहफे में दे दी गई थी। बहरहाल, ऐसे बहुत सारे भूस्वामी नशीली दवाओं के उत्पादन और निर्यात में भी संलग्न है और वह अमेरिकी ड्रग माफिया से गहरे तौर पर जुड़े हुए हैं। चिले में ऐसे धनकुबेरों ने ही प्रतिक्रांति को अमली जामा पहनाया था। वेनेज़ुएला में चावेज़ सरकार को अस्थिर करने के लिए भी उसने इसी तरह की कई नाकामयाब कोशिशें की हैं। इस बात पर यकीन करने का कोई कारण नहीं है कि बोलिविया में इसी तरह की कोशिशें नहीं की जाएंगी भले ही इससे पूरा देश टुकड़े–टुकड़े क्यों न हो जाए।

शेष पृष्ठ 9 पर......

रिमझिम बरसे मेह

नारी में चेतना जगाने वाली : रशीद जहाँ

कुँवरपाल सिंह

रशीद जहाँ का जन्म 5 अगस्त 1905 में अलीगढ़ में हुआ था। 1930 में उन्होंने एम.बी.बी.एस. की परीक्षा पास की और लखनऊ में डॉक्टरी की प्रैक्टिस शुरू की। 1932 में वह सामाजिक कार्य में शामिल हुई। उन्होंने दलितों और स्त्रियों के लिए रात्रि पाठशाला शुरू की। उन्होंने ***चिनगारी*** *नामक पत्रिका भी निकाली। 1932 में उन्होंने सज्जाद जहीर के साथ मिलकर* ***अंगारे*** *नामक संग्रह निकाला।* ***अंगारे*** *क्या छपी तमाम संकीर्णतावाद और धार्मिक राजनीति करनेवाले उनके पीछे पड़ गये। उनका चेहरा बिगाड़ने और नाक काटने का फतवा जारी किया गया।* ***अंगारे*** *मुल्ला–मौलवियों और कट्टरपंथियों के दबाव में मार्च 1933 में ज़ब्त कर ली गई। रशीद जहाँ जन–आंदोलनों में बराबर सक्रिय रहीं उन्होंने दलित और मुस्लिम स्त्रियों के उत्थान और समानता के लिए लड़ाई लड़ी। रेल मज़दूरों की हड़ताल के समर्थन में वह जेल भी गईं। उन्होंने 15 दिन भूख हड़ताल की। इससे उनका स्वास्थ्य ख़राब हो गया और 46 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गई।*

रशीद जहाँ का जीवन–संघर्षों से भरा रहा। वे अलीगढ़ के वीमेंस कॉलेज के संस्थापक शेख अब्दुल्ला की पुत्री थीं। उनकी एक बहन फ़िल्मों में रेणुका देवी के नाम से काम रहती थीं। दूसरी बहन मुमताज़ जहाँ 32 वर्ष तक वीमेंस कॉलेज की प्रिंसिपल रहीं। सबसे छोटी बहन, आज भी दिल्ली में एक अत्यंत संभ्रांत, संपन्न परिवार की प्रमुख हैं।

रशीद जहाँ का मूल्यांकन अपने समय में संभव नहीं था। क्रांतिद्रष्टा व्यक्तियों का मूल्यांकन उनका समय नहीं करता। वे अपने समय से बहुत आगे होते हैं। यही कारण है कि कबीर के मूल्यांकन में लोगों को छह शताब्दियाँ लगीं। लेकिन कबीर से आज भी लोग डरते हैं। मीरांबाई के मूल्यांकन में भी लंबा समय लगा क्योंकि किसी नारी को भारतीय समाज क्रांतिकारी रूप में नहीं देख सकता। मीरांबाई ने 500 साल पहले सामंती मूल्यों और मर्यादाओं को खुली चुनौती दी थी। सामंती नैतिकता और संस्कृति के प्रतीक राणा सांगा को उन्होंने अपने पति की मृत्यु के बाद जो उत्तर दिया वह आज भी आधुनिक नारी के लिए आदर्श वाक्य है। राणा ने मीरां के सामने उनके पति की मृत्यु के बाद जब सती होने का प्रस्ताव रखा तो मीरां ने उत्तर दिया कि मैं सती क्यों होऊँ। मेरे एक ही पति की तो मृत्यु हुई है। मेरा दूसरा पति गिरधर गोपाल तो जीवित है। यह चुनौती बहुत बड़ी थी। हिंदू धर्म शास्त्रों के अनुसार पत्नी के लिए केवल पति ही आराध्य और देवता है। पति को छोड़कर वह भगवान के साथ भी नहीं जा सकती। ऐसे में तो पतियों की बात करना तो जघन्य अपराध है। उसकी कल्पना हिंदू धर्म में करना सबसे बड़ा पाप है। मीरां ने इन धर्मशास्त्रों के सामने सवाल किया कि क्या किसी नारी का कोई व्यक्तित्व नहीं होता। क्या वह अपना रास्ता नहीं चुन सकती। क्या उसे अपने पति के परिवार की सारी नैतिकता और परंपरा का पालन करना है। इसीलिए नारी का अपना कोई विवेक नहीं होता, उसकी कोई अस्मिता नहीं होती। मीरां 16 शताब्दी में यह सवाल चित्तौड़ के राणाओं से कर रही थी। तब तो उसे दुख उठाने ही थे। उसे चित्तौड़ छोड़ना पड़ा। वृंदावन में भी उसे शरण नहीं मिली। मीरां ने यह अनुभव किया कि कोई स्थापित धर्म और संप्रदाय मनुष्य को उसकी स्वतंत्रता नही देता। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है। मीरां जीवनभर मानव गरिमा, नारी अस्मिता और स्वतंत्रता की खोज करती रही? जब उसे अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्मिता की रक्षा करना असंभव प्रतीत हुआ तो उसने समुद्र में कूदकर आत्महत्या करना उचित समझा।

लेकिन रशीद जहाँ का संघर्ष मीरां से कुछ अधिक जटिल और अधिक व्यापक है। रशीद जहाँ भी धर्म की जड़ता, रूढ़िवादिता, पाखंड और अमानवीयता को चुनौती देतीं हैं। वह धर्म की निषेधात्मक भूमिका का उपहास करतीं हैं और उसका उद्घाटन करतीं हैं। कबीर ने बहुत पहले कहा था, ''तू कहता कागज की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।'' रशीद जहाँ ने धर्म और उसके पुरोधाओं को वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने व्यंग्य करते हुए लिखा है, ''गुनाह करना गुनाह नहीं है, उसका पकड़ा जाना गुनाह है।'' (*सौदा*–कहानी, पृष्ठ–55) धार्मिक लोगों और चोरों के सिद्धांत में कोई अंतर नहीं है। चोर वही होता है जो चोरी करते पकड़ा जाए। धर्म के नाम पर कुछ भी पाखंड करो सब माफ है, केवल पकड़े मत जाओ। जिस नैतिकता और पवित्रता की धार्मिक लोग बात करते हैं वही लोग रात के अँधेरे में वही करते हैं जिसे वह दिन में दूसरों को न करने का उपदेश देते हैं। ''चंद मिनट के बाद ऊपर से टॉर्च चमकी। मेरे दोस्त नीचे उतरने की कोशिश कर रहे थे। उस तेज़ रोशनी ने चंद सेकेंड के लिए दो नंगे शख़्स सबके सामने कर दिए। रोशनी के चमकते ही मर्द ने अपने जिस्म की परवाह न करते हुए फ़ौरन अपना मुँह औरत के बुर्क़े में छिपा लिया। डर था कि पहचान न लिया जाए।'' (*सौदा*–कहानी, पृष्ठ–55) भारतीय समाज में आदर्श और यथार्थ की निरंतर तकरार होती रही है। यथार्थ केवल हाशिए पर जीवित रहा है। आदर्श के कुहासे में भारतीय समाज और धर्म के नियामकों ने हर स्वतंत्र विचारक के पर कतरने का प्रयास किया। शीशे के टुकड़ों को हीरे बताकर प्रस्तुत करते रहे हैं और हीरों को पत्थर के टुकड़े बताकर

हाशिए पर डालते रहे हैं। भारतीय परंपरा में भौतिकवादी चिंतन का हमेशा उपहास किया जाता रहा है लेकिन क्रांतिकारी चिंतनों ने हमेशा इन यथा स्थितिवादियों को चुनौती दी है।

अंगारे का प्रकाशन 1932 में एक क्रांतिकारी क़दम था। इस पुस्तक ने केवल साहित्य के क्षेत्र में नहीं बल्कि सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी उथल–पुथल मचा दी। **अंगारे** क्या छपी तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। **अंगारे** की कहानियाँ जिन लोगों की सत्ता और स्वार्थ पर चोट कर रही थीं, जिन चेहरों से नक़ाब हटा रही थीं, वे सक्रिय हो उठे। संकलन पर आरोप लगाया गया, ''यह इस्लाम और मुसलमानों के ख़िलाफ़ यूरोपीय (अंग्रेज़ी) शिक्षा के नशे में चूर चंद सिरफिरे नास्तिक नौजवानों की सुनियोजित साज़िश है, वे इस्लाम की शिक्षा देनेवालों को बदनाम करना चाहते हैं, इससे मुसलमानों की भावनाएँ आहत हुई हैं तथा इस संकलन की कहानियाँ और एकाकी नौजवानों के चरित्र पर नाकारात्मक प्रभाव डाल सकती है।'' (*अंगारे,* पृष्ठ–13)

क्या कारण है कि धार्मिक व्यक्ति जब किसी पुस्तक या किसी रचना पर धर्म विरोधी होने का आरोप लगाते हैं तो उस पर अश्लीलता का आरोप लगाना नहीं भूलते। क्या अश्लीलता और धार्मिक कठमुल्लापन में कोई संबंध है? यह विचारणीय सवाल है क्योंकि साहित्य में पिछली शताब्दी से यही हो रहा है। अपने विरोधियों को परास्त करने का यह सरल, अवैज्ञानिक और अमानवीय तरीक़ा है। आप तर्क का जवाब तर्क से न देकर भावनाओं को भड़का कर दें तो हम किसी बौद्धिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। 1933 के आरंभ में **अंगारे** पर जो बहस हुई तो अदब और समाज के रिश्तों तथा अदब की स्वायत्तता आदि प्रश्न भी दरकिनार कर दिए गए थे। जो सवाल उछाले गए थे उनमें साहित्य, समाज, धर्म आदि के रिश्तों पर कोई गंभीर चर्चा नहीं थी। **अंगारे** के लेखकों को नास्तिक, धर्मविरोधी, समाज विरोधी कहा गया। इस पुस्तक को जनता का ईमान ख़राब करने वाला बताया गया।

हमारे धर्म धुरंधर यह भूल गए कि आज का समय ज्ञान–विज्ञान, तर्क और जिज्ञासा का युग है। कोई भावना कितनी ही पवित्र क्यों न हो उसे प्रश्नों के दायरे में लाया जा सकता है। ज्ञान–विज्ञान और समाज का विकास इसी जिज्ञासा तर्क और कौतूहल को शांत करने के लिए किया गया है। यदि इसे रोक देंगे तो फिर हम आदिम समाज में चले जाएँगे।

यह आश्चर्य की बात है कि **अंगारे** के विरोध में अधिकांश उर्दू पत्र–पत्रिकाओं में छपनेवाले लेख इसे धर्म, नैतिकता और समाज विरोधी बता रहे थे और उसे पश्चिम की अंधी नक़ल कहकर इनके लेखन कार्य को ख़ारिज करने की कोशिश कर रहे थे। इस पुस्तक के लेखकों पर जो आरोप लगे उनके कुछ नमूने प्रस्तुत है :

''ऑल इंडिया शिया कॉन्फ्रेंस की केंद्रीय स्टैंडिंग कमेटी की यह बैठक **'अंगारे'** नामक हृदयघाती तथा अपवित्र पुस्तिका की तीव्र भर्त्सना करती है, जिसे सज्जाद ज़हीर, अहमद अली, रशीद जहाँ एवं महमूदज़्ज़फ़र ने संयोजित किया है। इस पुस्तिका ने खुदा और उसके रसूल का मज़ाक़ उड़ाकर संपूर्ण मुस्लिम संप्रदाय की भावनाओं को गहरे तक आहत किया है, जो कि धर्म और नैतिकता दोनों ही दृष्टिकोणों से अत्यंत आपत्तिजनक है। इसके अतिरिक्त कमेटी पूरी गंभीरता से उत्तर प्रदेश शासन का ध्यान इस ओर आकृष्ट कराते हुए इस पुस्तिका को तुरंत प्रतिबंधित करने की माँग करती है।'' (*अंगारे,* पृष्ठ–98)

उर्दू प्रेस के साथ मौलाना अब्दुल माज़िद दरियाबादी की भूमिका भी अत्यंत प्रतिक्रियावादी, प्रगतिशील, साहित्य और विचारधारा के विरोध में थी। इस विरोध के सामने ब्रिटिश सरकार झुक गई और उसने 25 मार्च 1933 को **अंगारे** को ज़ब्त कर लिया। उसके प्रकाशक ने क्षमा याचना कर ली, लेकिन इसके चारों लेखक अहमद अली, सज्जाद ज़हीर, महमूदज़्ज़फ़र तथा रशीद जहाँ ने किसी प्रकार की माफ़ी माँगने से साफ़ इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हमें अधिकार है कि हम समाज, धर्म और साहित्य के बारे में अपनी अलग राय रखें। हमें अधिकार है कि हम नए समाज के निर्माण के लिए प्रयास करें। हमारा साहित्य विचारों का प्रतिनिधित्व करता है।

धर्म के ये पुरोधा पुरुषों को तो माफ़ करने के लिए तैयार थे लेकिन किसी औरत को क्रांतिकारी विचार रखने पर माफ़ करने को तैयार नहीं थे। रशीद जहाँ के ख़िलाफ़ नाक काटने, चेहरा ख़राब करने तथा समाज से बहिष्कार करने की लंबी मुहिम चलती रही। वह आज भी ज़ारी है।

2004 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग ने रशीद जहाँ के शताब्दी समारोह के समय अखिल भारतीय संगोष्ठी रखी जिसमें देश भर के उर्दू के लेखक रशीद जहाँ को श्रद्धांजलि देने और उनके रचना कर्म पर चर्चा करने आनेवाले थे। यही नहीं रशीद जहाँ के कुछ निकटतम रिश्तेदार पाकिस्तान और इंग्लैंड से भी आ गए थे। जब पूरे विश्वविद्यालय में सेमिनार के निमंत्रण पत्र बँट गए तब मौलाना दरियाबादी के कुछ समर्थक और रिश्तेदार 1933 में मौलाना के द्वारा **अंगारे** और रशीद जहाँ के ख़िलाफ़ लिखी तहरीर लेकर कुलपति महोदय के पास पहुँचे और इस सेमिनार को धर्म विरोधी व इस्लाम विरोधी बताकर रोकने का आग्रह किया। कुलपति महोदय ने उनके विचारों से तुरंत सहमत होकर उर्दू विभाग के अध्यक्ष को बुलाकर सेमिनार रद्द करने का आदेश दिया। अध्यक्ष महोदय ने उनको बहुत समझाने का प्रयास किया और कहा कि मान्यवर, इससे देश–विदेश में विश्वविद्यालय की छवि को क्षति पहुँचेगी। उनकी बात नहीं सुनी गई और सेमिनार रद्द कर दिया गया। रशीद जहाँ का भूत (उनकी मृत्यु जुलाई 1952) 53 वर्ष बाद भी इस्लाम के ठेकेदारों और प्रतिक्रियावाद, राजनीतिज्ञों के सर पर मँडरा रहा है। मीरांबाई को तो देवी बना दिया लेकिन उसे अब भी एक क्रांतिकारी महिला का दर्जा देने को कोई तैयार नहीं है। यह आश्चर्यजनक सत्य है कि मीरां का नाम मेड़ता के राठौर जिनकी वह बेटी थीं और मेवाड़ के सिसौदिया जिनकी वह बहू थीं आज 500 वर्ष बाद भी कोई अपनी लड़कियों का नाम मीरां नहीं रखता है। मीरां के मंदिर, शोध संस्थान तो बन गए हैं लेकिन उसकी क्रांतिकारी छवि को पचाने के लिए समाज अब भी तैयार नहीं है। फिर रशीद जहाँ जैसी क्रांतिकारी जो महिला

ग़रीब, बेसहारा, समाज के सबसे पीड़ित, दलित तथा महिलाओं की प्रबल पक्षधर को कैसे क्षमा कर सकते हैं। धर्म की राजनीति करनेवालों ने हमेशा अपने क्रांतिकारी लेखकों और चिंतकों के साथ यही किया है।

आज इस पर विचार करने की आवश्यकता है कि आख़िर रशीद जहाँ के प्रति कट्टरपंथियों को इतना आक्रोश क्यों था? हालाँकि रशीद जहाँ के लेखन में धर्म का न तो सीधा विरोध है न अश्लीलता का चित्रण। डी.एच. लॉरेंस और जेम्स जॉयस का प्रभाव अहमद अली और सज्जाद ज़हीर की कहानियों पर तो है किंतु रशीद जहाँ उस प्रभाव से भी मुक्त है। आज इस प्रश्न पर यदि विचार करें तो बात कुछ स्पष्ट होती है। **शायद, बीसवीं सदी की वह पहली लेखिका है जो औरत की समानता की खुलकर बात करती है। लेखिका ने स्पष्ट कहा है कि दुनिया का कोई धर्म स्त्री को समानता का दर्जा नहीं देता। धर्म ने जो भी अधिकार दिए हैं, समाज के नियंताओं और धर्म के ठेकेदारों ने उसे उन अधिकारों से वंचित कर दिया है।**

उत्तर भारत की वह पहली लेखिका हैं, जिसने धर्म की आड़ में नारी देह के शोषण और उस पर होनेवाले अमानवीय अनाचारों, अत्याचारों को अपने लेखन का विषय बनाया। यही नहीं ये कुलीन लोग स्त्री के मानवीय अधिकारों को भी कुचल देना चाहते हैं। स्त्री जब भी कुछ कहती है, धर्म और समाज का भय दिखाकर उसे चुप कर देते हैं। जब धार्मिक आडंबरों, अत्याचारों से पीड़ित होती हुई इनसे जुड़े सवाल कोई नारी करने लगती है तो धर्म के आचार्य तिलमिलाकर उसे धर्म–विरोधी क़रार देकर उसकी आवाज़ को दबाने का निर्लज्ज प्रयास करते हैं। रशीद जहाँ के साथ भी यही हुआ। एक मुसलमान स्त्री के विद्रोह को धर्म के निहित स्वार्थों के लिए उपयोग करने वाले धर्मांध लोग पचा नहीं पा रहे थे।

रशीद जहाँ ने धर्म की आड़ में नारी शोषण के उन तमाम आयामों का चित्रण किया है जो धर्म की आड़ में पर्दे के पीछे होने के कारण दिखाई नहीं पड़ते। रशीद जहाँ ने इसी रंगमंच पर पर्दे के पीछे चलनेवाले क्रिया–कलापों को चित्रित किया है।

अंगारे में रशीद जहाँ की केवल एक कहानी है– 'दिल्ली की सैर', जो दो पृष्ठों की है। आज उस कहानी को हम बहुत साधारण और कलाहीन कह सकते हैं। लेकिन 74 वर्ष पुरानी दुनिया में जाइए और तत्कालीन समाज–व्यवस्था, संस्कृति, धार्मिक वर्चस्व की बात सोचिए, तब ये कहानी अपने समय के यथार्थ का बोध कराने में आपका सहयोग करेगी।

पति पत्नी को दिल्ली की सैर कराने ले जाता है। उसे प्लेटफॉर्म पर सामान की रखवाली के लिए छोड़कर अपने मित्र के साथ दिल्ली शहर चला जाता है। पत्नी भूखी–प्यासी शाम तक उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। पति शाम को लौटता है और उसे पुनः रेल में बिठाकर अपने शहर आ जाता है। मुहल्ले की औरतें उसे बड़ा भाग्यशाली समझती हैं कि उसने दिल्ली तक की सैर तो की और बाहर की नई दुनिया देखी। लेकिन हक़ीक़त तो वह जानती थी। मुहल्ले की स्त्रियों द्वारा बार–बार सैर की बातें सुनाने के इसरार पर उसका आक्रोश फूट पड़ता है, ''अल्लाह झूठ न बुलवाए तो सैकड़ों बार तो सुना चुकी हूँ। यहाँ से रेल में बैठकर दिल्ली पहुँची और वहाँ उनके मिलनेवाले कोई निगोड़े स्टेशन मास्टर मिल गए। मुझे असबाब (सामान) के पास छोड़ यह तो रफ़ू–चक्कर हुए और मैं असबाब पर चढ़ी बुर्क़ी में लिपटी बैठी रही। एक तो कम्बख़्त बुर्क़ा, दूसरे मर्दुए। मर्द तो वैसे ही ख़राब होते हैं और अगर किसी औरत को इस तरह बैठे देख लें तो और चक्कर पर चक्कर लगाते हैं। पान खाने तक की नौबत न आई। कोई कम्बख़्त खाँसे, कोई आवाज़ें कसे और मेरा डर के मारे दम निकला जाए। और भूख वह ग़जब की लगी कि ख़ुदा की पनाह। दिल्ली का स्टेशन क्या है, मुआ, क़िला भी तो इतना बड़ा न होगा। जहाँ तक निगाह जाती थी, स्टेशन ही स्टेशन नज़र आता था और रेल की पटरियाँ, इंजन और मालगाड़ियाँ। सबसे ज़्यादा डर मुझे उन काले–काले मर्दुओं से लगा जो इंजन में रहते हैं।''

रशीद जहाँ ने अपने समकालीनों अथवा अपने बाद के लेखकों के मुक़ाबले बहुत कम लिखा है। उनके खाते में एक दर्जन कहानियाँ, छह एकांकी नाटक तथा मुंशी प्रेमचंद पर एक संस्मरण शामिल है। उन्होंने कुछ साहित्यिक लेख भी लिखे जो विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में छपे।

किंतु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। अपने सामाजिक कार्यों और राजनीतिक गतिविधियों के कारण साहित्य सर्जन के लिए उन्हें अवकाश कम मिला। फलतः वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं दे सकीं। इसके अतिरिक्त साहित्य जगत में वे उपेक्षा की भी शिकार रहीं। इस दृष्टि से वे भक्तिकाल की मीरां तथा अपनी समकालीन सुभद्रा कुमारी चौहान के समकक्ष ठहरती हैं, जिन्होंने न विपुल साहित्य रचा और न लंबी आयु पाई। लेकिन उनके साहित्यक अवदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका साहित्य अँधेरे में मशाल की तरह हमें मार्ग दिखाता है, दिशा–बोध कराता है।

प्रेमचंदोत्तर रचनाकारों में रशीद जहाँ संभवतः अकेली थीं, जिन्होंने उर्दू–साहित्य में सामाजिक यथार्थ को पूरी शक्ति से अभिव्यक्ति प्रदान की और उसे वैज्ञानिक और क्रांतिकारी स्वरूप देने के लिए संघर्ष किया। जीवन के ऐतिहासिक और भौतिक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने उन पक्षों पर पैनी दृष्टि डाली जो उनके समकालीन रचनाकारों की दृष्टि से ओझल बने रहे। रशीद जहाँ स्त्री–वर्ग को समाज की सबसे कमज़ोर इकाई के रूप में तो देखती हैं, किंतु उसकी अस्मिता और सम्मान के प्रति अत्यंत जागरूक हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ नायिका प्रधान हैं। उनकी रचनाओं में नई नारी की झलक मिलती है, जो थोथी मान–मर्यादा, नैतिकता, धर्म के पाखंडों और अमानवीयता के विरुद्ध आवाज़ उठाने की शक्ति और सामर्थ्य रखती हैं। **रशीद जहाँ संभवतः उत्तर भारत की पहली मुस्लिम लेडी डॉक्टर थी। उन्होंने 1931 में लखनऊ में विधिवत् प्रैक्टिस भारू की। लेकिन उन्होंने डॉक्टरी को जन–सेवा का माध्यम बनाया पैसे कमाने का व्यवसाय नहीं।** रशीद जहाँ ने ग़रीब बस्तियों में साईकिल से जाकर महिलाओं और बच्चों का इलाज शुरू किया।

उन्होंने पहली बार अभाव, ग़रीबी, जहालत, अंधविश्वास देखे, साथ ही महिलाओं के साथ अन्याय–अत्याचारों की एक अँधेरी दुनिया भी देखी। यहीं उन्हें धर्म और धार्मिक लोगों के दोहरे चरित्र की वास्तविकता का अनुभव हुआ। उन्होंने सवाल किया कि ऐसा क्यों और कब तक? इन्हीं सवालों को उन्होंने जन–आंदोलनों से जोड़ा। सज्जाद ज़हीर और महमूदज़्ज़फ़र के सान्निध्य में उन्होंने मार्क्सवाद का पाठ पढ़ा। उन्होंने अनुभव किया कि नारी के साथ किसानों–मज़दूरों की मुक्ति भी आवश्यक है। ***अंगारे*** के विरुद्ध हंगामे से वे डरी नहीं। बल्कि, और भी अधिक मज़बूत होकर निकलीं। उन्होंने प्रगतिशील आंदोलन के झंडे तले लेखकों और रंगकर्मियों को एकत्र करने का बीड़ा उठाया। प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन रशीद जहाँ के बिना संभव नहीं था। सज्जाद ज़हीर ने लिखा है, ''सम्मेलन के दस दिन पूर्व तक उनकी जेब में केवल रुपए 300/– थे। पूरे देश से लेखक आ रहे थे। तब रशीदा ने पैसे इकटठे करने का बीड़ा उठाया अपने कुछ नौजवान दोस्तों के साथ गोमती के पुल पर खड़े होकर दो–दो रुपए के टिकट बेचे। हफ़्तेभर में सम्मेलन का ख़र्चा निकल आया। देशभर के लोग लखनऊ आकर सम्मेलन में शरीक़ हुए। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जिन्हें रशीदा सम्मेलन में लेकर आई थीं, लखनऊ आकर बोले, ''मैं अमृतसर से तो आ गया, वापिस जाने का इंतज़ाम तुम्हें करना है।''

देश में लेखकों के इस बड़े सम्मेलन में प्रेमचंद, रशीद जहाँ के आग्रह पर आए थे। यह दुर्भाग्य है कि प्रेमचंद के साथ हिंदी के लेखकों में केवल जैनेन्द्र कुमार आए। इस प्रवृति पर अब भी चिंतन करने की आवश्यकता है। आख़िर क्या कारण थे कि प्रगतिशील लेखक संघ के निर्माण में उस समय का कोई महत्वपूर्ण रचनाकार शामिल नहीं हुआ। मैथिलीशरण गुप्त, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', माखन लाल चतुर्वेदी, सुमित्रानंदन पंत, निराला, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि ने शुभकामना संदेश तो भेजे लेकिन कोई लखनऊ के अधिवेशन में नहीं आया। प्रेमचंद जी से जब रशीद जहाँ ने यह सवाल किया कि हिंदी के लोग इस सम्मेलन में क्यों नहीं आए जबकि साहित्य में प्रगतिशीलता की बात बहुत करते हैं, प्रेमचंद ने इसका बहुत संक्षिप्त उत्तर दिया कि हिंदी के अधिकांश लेखक हीन भावना से ग्रसित हैं। उर्दू के लेखकों के साथ बैठकर वह सहजता का अनुभव नहीं कर पाते। (*रोशनाई*–सज्जाद ज़हीर)

रशीद जहाँ ने देहरादून से एक मासिक पत्रिका *चिनगारी* निकाली। इसमें राजनैतिक, सामाजिक तथा नारी विमर्श पर लेख होते थे। खेद है कि इसके अब कोई अंक उपलब्ध नहीं हैं। 1942 में रशीद जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी की पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गईं। अब उन्हें मज़दूर वर्ग के आंदोलन से ही समय नहीं मिलता था। रेलकर्मियों की जब देशव्यापी हड़ताल हुई तो रशीद जहाँ ने भी रेलवे मज़दूरों की हड़ताल का खुलकर समर्थन किया। उन्हें भी गिरफ़्तार करके लखनऊ की जेल में भेज दिया गया। रशीद जहाँ की प्रमुख साथी और ज़ोहरा सहगल की बहन हाज़रा बेगम ने रशीद जहाँ के साहस, कर्मठता और मज़दूरों के प्रति समर्पण की भावना पर लिखा है, ''रशीदा का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था और दिन–ब–दिन गिरता जा रहा था, लेकिन उन्होंने जिस तरह हँसते–हँसते जेल की कठिनाइयों को झेला और अपने लिए किसी भी सुविधा या रिआयत की अनुमति नहीं दी, वह एक आदर्श आचरण था। यहाँ तक की 16 दिन भूख हड़ताल भी की, जिसका प्रभाव उनकी बाद की घातक बीमारी का कारण बन गया। जेल से रिहाई के बाद उनका स्वास्थ्य गिरता ही गया।'' (*रशीद जहाँ की कहानियाँ और नाटक,* पृष्ठ–8)

रशीद जहाँ ने केवल 20 वर्ष तक ही लिखा। जीवन के अंतिम 10 वर्ष तो उन्होंने केवल राजनीतिक लेखन किया। खेद है कि उनमें से कुछ भी उपलब्ध नहीं है। उनके तो समकालीनों ने उनकी 25 कहानियों और 15 नाटकों का उल्लेख किया है। लेकिन हमें अब तक केवल 12 कहानियाँ और 6 नाटक ही प्राप्त हुए हैं। ये नाटक रेडियों पर प्रसारित हुए और मंच पर भी खेले गए। लेकिन उनमें से आज आधे भी उपलब्ध नहीं हैं। हम उर्दू–हिंदी के प्रगतिशील लेखकों और चिंतकों का क्या यह कर्तव्य नहीं है कि रशीद जहाँ की लुप्त रचनाओं को खोजकर प्रकाश में लाए ? उनके शताब्दी वर्ष पर हम रशीद जहाँ को इसलिए याद करते हैं कि वह उर्दू की पहली महिला लेखिका हैं जिन्होंने बड़े साहस के साथ समाज के इस कोढ़ का उद्घाटन किया जिसको अब तक लोग छुपाकर रखते आए थे। वह पहली लेखिका हैं जिन्होंने एक विद्रोही मस्तिष्क और दिल पाया था। जिन्होंने उर्दू साहित्य के ढेर सारे विद्रोही चरित्रों का सृजन किया। वे अंतिम समय तक अपने लक्ष्य में समर्पित रहीं।

रशीद जहाँ इसलिए भी महान हैं कि उन्होंने स्वयं तो बहुत कम लिखा, लेखिकाओं की एक पूरी पंक्ति तैयार की और इस्मत चुगताई, सिद्दीक़ी बेगम, रज़िया, सज्जाद ज़हीर, हाज़रा मसरूर, मुमताज शीरी, ख़दीज़ा मस्तूर और कुर्तुल–एन–हैदर जैसी महिला लेखिकाओं को तैयार किया। इस तरह देखा जाए तो रशीद जहाँ हमारे साहित्य में एक ऐसी नई परंपरा की नींव रखनेवाली लेखिका हैं जिनका आज भी ऐतिहासिक महत्त्व है।

---

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी
फ्लैट नम्बर–110, नम्बरदार हाउस,
62–ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका
नई दिल्ली–110067
टेलीफोन : 011–26177904
ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए